जैनेन्द्र

व्यक्ति, कथाकार और चिंतक

साहित्यकार-अभिनन्दन ग्रंथमाला—२

जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिन्तक

सम्पादक
बांकिविहारी भटनागर

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
हिन्दी-भवन, नई दिल्ली के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
चन्द्रलोक जवाहरनगर,
दिल्ली-७

बिक्री-केन्द्र नई सड़क दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
जनवरी १९६२

मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक
भारत मुद्रणालय
शाहदरा दिल्ली १२

निवेदन

मैं साहित्यकार को राजनीतिज्ञ से उतना ही ऊँचा मानता हूँ जितना ऊँचा सागर-तल से हिमालय है। यही कारण है कि मेरे अन्तर को गहरी चोट लगती है जब मैं देखता हूँ कि भारतवर्ष में साहित्यकार पर राजनीतिज्ञ वर्ग की धुंध की तरह छाते चले जा रहे हैं। यह शुभ है या अशुभ यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साधारण-से-साधारण राजनीतिज्ञ के पीछे-पीछे फिरना और बड़े से बड़े साहित्यकार को उदासीनता की दृष्टि से देखना किसी स्वस्थ राष्ट्रीय परम्परा का द्योतक नहीं है।

इस से भी अधिक दुःख मुझे तब होता है जब मैं देखता हूँ कि जब तक साहित्यकार जीवित रहता है तब तक बहुधा उस के अस्तित्व को स्वीकार करना भी विवाद का विषय बना रहता है और जब वह हमारे बीच से उठ जाता है तब एकाएक हम जैसे सोते से जाग उठते हैं और कम से कम कुछ समय के लिए उसकी विरुदावली की घनघोर वर्षा कर डालते हैं। अतः जीवित साहित्यकारों का सम्मान करने की एक नियमित परिपाटी डालने की आकांक्षा मेरे मन में बहुत दिनों से रही है। यह पुस्तक उसी आकांक्षा का प्रतीकमात्र है। मैंने निश्चय किया है कि राजधानी के हिन्दी-भवन की ओर से—जिसकी स्थापना आज से बारह वर्ष पूर्व पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने की और जिसके संचालन का भार संयोगवश आजकल मेरे कन्धों पर है—कम से कम चार साहित्यकारों का अभिनन्दन प्रतिवर्ष किया जाए, जिनमें एक साहित्यकार अहिन्दी भाषी भी हो। इस अभिनन्दन-योजना में एक छोटी-सी ऐसी पुस्तक का प्रकाशन भी सम्मिलित है, जिससे अभिनन्दन-समारोह में भाग लेने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य साहित्य प्रेमियों को भी अभिनन्दित साहित्यकार के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व की थोड़ी-बहुत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो जाए। 'बच्चन : व्यक्तित्व और कवि' नाम की यह पुस्तक डा० हरिवंशराय

प्रकाशक
हिन्दी-भवन, नई दिल्ली के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
चन्द्रलोक जवाहरनगर
दिल्ली-७

बिक्री-केन्द्र नई सड़क दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
जनवरी १९६५

मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक
भारत मुद्रणालय
शाहदरा दिल्ली १२

निवेदन

मैं साहित्यकार को राजनीतिज्ञ से उतना ही ऊँचा मानता हूँ जितना ऊँचा सागर-तल से हिमालय है। यही कारण है कि मेरे अन्तर को गहरी चोट लगती है जब मैं देखता हूँ कि भारतवर्ष में साहित्यकार पर राजनीतिज्ञ रुई की फुई की तरह छाते चले जा रहे हैं। यह शुभ है या अशुभ, यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साधारण-से-साधारण राजनीतिज्ञ के पीछे-पीछे फिरना और बड़े से बड़े साहित्यकार को उदासीनता की दृष्टि से देखना किसी स्वस्थ राष्ट्रीय परम्परा का द्योतक नहीं है।

इस से भी अधिक दुःख मुझे तब होता है जब मैं देखता हूँ कि जब तक साहित्यकार जीवित रहता है तब तक बहुधा उस के अस्तित्व को स्वीकार करना भी विवाद का विषय बना रहता है, और जब वह हमारे बीच से उठ जाता है तब एकाएक हम जैसे सोते से जाग उठते हैं और कम से कम कुछ समय के लिए उसकी विरदावली की घनघोर वर्षा कर डालते हैं। अतः जीवित साहित्यकारों का सम्मान करने की एक नियमित परिपाटी डालने की आकांक्षा मेरे मन में बहुत दिनों से रही है। यह पुस्तक उसी आकांक्षा का प्रतीकमात्र है। मैंने निश्चय किया है कि [illegible] के हिन्दी-भवन की ओर से—जिसकी स्थापना आज से बारह वर्ष पूर्व पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने की और जिसके संचालन का भार संयोगवश आजकल मेरे कन्धों पर है—कम से कम चार साहित्यकारों का अभिनन्दन प्रतिवर्ष किया जाए, जिनमें एक साहित्यकार अहिन्दी-भाषी भी हो। इस अभिनन्दन-योजना में एक छोटी-सी ऐसी पुस्तक का प्रकाशन भी सम्मिलित है जिससे अभिनन्दन-समारोह में भाग लेने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य साहित्य-प्रेमियों को भी अभिनन्दित साहित्यकार के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व की थोड़ी-बहुत प्रामाणिक जानकारी [illegible] हो जाए। 'बच्चन : व्यक्ति और कवि' नाम की जो पुस्तक [illegible]

'[illegible]' की १७वीं वर्षगाँठ के अवसर पर २७ नवम्बर, १९६४ को प्रकाशित हुई थी, वह इसी दिशा में हमारा प्रथम नम्र प्रयास था।

प्रस्तुत पुस्तक उसी शृंखला की दूसरी कड़ी है। इसमें नये-पुराने लेखों के माध्यम से जैनेन्द्रजी के कथाकार और चिन्तक रूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसकी उपयोगिता प्रथम पुस्तक ही की भाँति सिद्ध हो सकी तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूँगा।

हिन्दी भवन नई दिल्ली
२ जनवरी १९६५

बाँकेबिहारी भटनागर

क्रम

जीवन और व्यक्तित्व

मूल्यांकन

सृजन

जीवन और व्यक्तित्व



श्री जैनेन्द्र

जैनेन्द्र :
जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर सर्वांगीण दृष्टिपात

—डा० धर्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

श्री जैनेन्द्रकुमार का जन्म २ जनवरी सन् १९०५ को कौड़ियागंज (जिला अलीगढ़) में हुआ था। नाम रखने वाले पंडित ने भविष्यवाणी की थी कि वह अपने पिता के लिए भारी होंगे। इस से उन के पिता का मन भर गया। पंडितों की भविष्यवाणी सच निकली। उन के पिता सन् १९०७ में जब जैनेन्द्र जी केवल दो वर्ष के थे चल बसे। इस प्रकार जैनेन्द्र जी बहुत ही छोटी आयु में पिता के प्यार से वंचित हो गए और उन की शिक्षा-दीक्षा तथा पालन-पोषण का भार उन के मामा और माँ के कन्धों पर आ पड़ा। मामा ने उन्हें इतना प्यार किया कि पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक वह यही न समझ सके कि मामा मामा हैं या पिता। कारण पिता के मरने के बाद ही वह मामा के यहाँ चले आए थे। मामा का नाम महात्मा भगवानदीन था जो गांधी-दर्शन और अध्यात्मोन्मुख प्रवृत्ति में तन मन से रमे हुए थे। उन के जीवन का जैनेन्द्र जी पर गहरा प्रभाव है।

उन के मामा ने हस्तिनापुर में एक गुरुकुल की स्थापना की थी। उसी में उन की पढ़ाई आरम्भ हुई। तब उन की उम्र कोई आठ वर्ष की थी। यहीं उन का असली नाम आनन्दीलाल बदल कर 'जैनेन्द्र' रखा गया और बाद में अलग से 'कुमार' जुड़ कर 'जैनेन्द्रकुमार' हो गया।

आरम्भ में जैनेन्द्र जी पढ़ने-लिखने में बहुत तेज नहीं थे और हर विषय में मौन थे। उस समय उन के मामा ने उन्हें एक पत्र लिखा जिसे पढ़ कर वह रो उठे और तब से कभी कक्षा में सैकिण्ड नहीं आए। तीसरी कक्षा में प्रथम आने पर भी आयु बहुत छोटी होने के कारण वह आगे की कक्षा में नहीं चढ़ाए गए।

बुद्धि आरम्भ से ही प्रखर थी पर पढ़ने लिखने की ओर से लापरवाही बढ़ती रही थी। जैनेन्द्र जी मौजी और हठीले भी बहुत थे। वह सब से समय रहन

थे। खेल-कूद में भी नहीं जाते थे। मंदिर में जाना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। लेकिन वह भावुक बहुत थे। इस का प्रमाण उस समय की एक घटना है। कहते हैं कि जब इन्हें गुरुकुल गए केवल एक वर्ष हुआ था तब मन्दिर में 'आदि पुराण' पढ़ा जा रहा था और पढ़ने वाले थे महात्मा भगवानदीन जी। पुराण में भरत बाहु-बलि का प्रसंग आया तब जैनेन्द्र जी की आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। उस प्रसंग ने उन के मन को ऐसा छुआ कि आगे चल कर सन् १९१४ में 'बाहु-बलि' नाम से उन्हों ने एक कहानी लिखी।

सन् १९१८ में गुरुकुल बन्द हुआ तब उन की पढ़ाई का क्रम टूट गया। वह दिल्ली अपनी माता श्रीमती रामदेवी बाई के पास आ गए। माता जी उन दिनों एक महिलाश्रम की संचालिका थीं। माता जी ने उन्हें मास्टर बलवन्तसिंह नामक एक सज्जन के पास बिजनौर भेज दिया। जैनेन्द्र जी चाहते थे कि उन के पास रह कर वह मैट्रिक की परीक्षा दें। किन्तु उम्र कम थी इसलिए उन्हें मैट्रिक में न बैठने देने का विचार किया गया। इस पर वह खूब रोए। अन्त में सन् १९१९ में उन्हों ने पंजाब से मैट्रिक किया। उसी वर्ष दिल्ली में गांधी जी के पकड़े जाने पर गोली चली थी। घण्टा-घर पर गोली चलने के समय जैनेन्द्र जी वहीं थे।

साहसी और विदुषी माँ की सन्तान

जैनेन्द्र जी की माता अत्यन्त कुशल दक्ष और साहसी थीं। उन की व्यावहारिक सूझ-बूझ इतनी थी कि सन् १९१० से महात्मा भगवानदीन जी ने घर उन्हीं पर छोड़ दिया था। जनेन्द्र जी के मामा हंसीलिपर थे और भिन्न भिन्न प्रान्तों में घूमे थे। इसलिए उन की माता जी भी उदार विचारों की हो गई थीं। विधवा होने के बाद न केवल भाई की गृहस्थी को उन्हों ने संभाला वरन् स्वयं अध्ययन किया और वह एक महिलाश्रम की संचालिका बन गईं (जिस महिलाश्रम की वह संचालिका थीं वह दिल्ली में पहाड़ी धीरज पर था) उस से पहले वह बम्बई में ताड़देव में सेठ माणिक चन्द्र की सुपुत्री सुश्री मगन बाई के श्राविकाश्रम में रह कर पढ़ी थीं और वहां से इन्दौर के सेठ हुकमचन्द के श्राविकाश्रम की संचालिका बनी थीं। वह साहसी इतनी थीं कि जब उन के भाई पंजाब मार्शल-ला में पकड़े गए तब वह लाट साहब से मिलने आ पहुंची थीं। इसी प्रकार एक बार बैतूल के अंग्रेज कलक्टर के घर वह राखी बांधने चली गई थीं और कांग्रेस का चन्दा वसूल कर लाई थीं। वह चन्दा रुपयों की शक्ल में नहीं था सेवों की शक्ल में था जिन्हें उन्हों ने ला कर स्वयंसेवकों में बांट दिया था। राजनीति में सक्रिय योग

देना उन का स्वभाव था और माथम को लड़कियों में भी देश–भक्ति की भावना उन्हों ने जगाई थी।)

इस प्रकार की विदुषी और देशभक्त मां के पुत्र जनेन्द्र ने मट्रिक पास कर के आगे की पढ़ाई के लिए काशी विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। लेकिन असहयोग आन्दोलन के प्रति सहानुभूति होने के कारण वह पढ़ाई छोड़ कर चल आए। यह बात सन् १९२० की है। तब जैनेन्द्र जी की समझ में नहीं आता था कि क्या करें। इसलिए उन्होंने सोचा चलो लाला लाजपतराय के 'तिलक स्कूल आफ पॉलिटिक्स' में ही भरती हो जाएं। वहां वह गए भी पर मन नहीं लगा और उसे छोड़ कर वह चले आए।

उन्हीं दिनों की बात है। वह अपनी मामी जी को नागपुर से लाते हुए जबलपुर रुके। तब 'कर्मवीर' जबलपुर से निकलता था और पं० माखनलाल चतुर्वेदी उस के सम्पादक थे। वह पं० माखनलाल चतुर्वेदी के पास ही ठहरे थे। वहां उन्हों ने स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान को देखा। सुभद्रा जी के व्यक्तित्व से वह अभिभूत हो गए और उन्हें लगा जैसे वह हिमालय की चोटी पर खड़ी हैं और वह नीचे। वह अपने को अपदार्थ मानने लगे यहां तक कि लड़कों में खेलने तक नहीं जाते थे। जब पं० माखनलाल चतुर्वेदी गिरफ्तार हो गए तब वह मामी जी को नागपुर छोड़ कर बिलासपुर गए, वहां माखनलाल जी का मुकदमा चल रहा था। इस बीच वह सुभद्रा जी के साथ बिलासपुर में कांग्रेस का काम करने लगे। कुछ दिन बाद वह नागपुर चले गए। वहां से अहमदाबाद कांग्रेस-अधिवेशन में गए। इधर से उन की माता जी भी वहां पहुंची और अधिवेशन के बाद इन्हें लिवा लाईं।

जब जैनेन्द्र जी दिल्ली लौटे तब उन की माता जी ने इनके लिए फर्नीचर का एक कारखाना खुलवा दिया। इस कारखाने का भी एक इतिहास था। बात यह हुई कि एक सज्जन महात्मा भगवानदीन जी कि चिट्ठी ले कर जन की माता जी के पास दिल्ली आए। इन महाशय को महात्मा जी ने छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके बढ़ईगीरी सिखवाई थी। माता जी ने इस काम के लिए रुपया दे दिया और वर्ग और कंधे से प्रारम्भ करके फर्नीचर का कारखाना चालू कर दिया गया। जैनेन्द्र जी मालिक समझे जाते थे। काम अच्छा चल निकला था कि सन् १९२३ में महात्मा भगवानदीन जी का एक तार उन्हें नागपुर से मिला और वह नागपुर पहुंच गए। नागपुर में उस समय झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था। उन्हों ने झण्डा-सत्याग्रह में संवाददाता का कार्य किया। सरकार संवाददाताओं से असन्तुष्ट थी। परिणामस्वरूप वह और उन के साथी गिरफ्तार कर लिए गए। तीन महीने ही जेल में रहे थे कि सरदार पटेल का सरकार से समझौता हो गया और वह

जेल से मुक्त हो गए। जैनेन्द्र जी का कहना है कि तब की जेल ही असली जेल थी क्योंकि तब डंडा बेड़ी और खाड़ी-बेड़ी भी मिली थी जबकि सन् ३० और ३२ में वह स्वाद फिर नहीं मिला।

जैनेन्द्र जी लौट कर दिल्ली आए तब देखा कि कारखाना बहुत बढ़ गया है। आगे एक दुकान भी बन गई थी। अच्छी-खासी आमदनी होने लगी थी। लेकिन साझीदार ने कह दिया कि दुकान हमारी है। मां सर पीट कर रह गई। जैनेन्द्र जी फिर बेकार के बेकार। अब फिर यह चिन्ता कि क्या करें।

सन् १९२७ में महात्मा भगवानदीन जी दिल्ली होते हुए रावलपिण्डी जा रहे थे। रावलपिण्डी से उन्होंने कश्मीर जाने का कार्यक्रम बना रखा था। कश्मीर का नाम सुन कर जैनेन्द्र जी का मन भी उन के साथ जाने को हो आया। साथ हो पड़े पर जब महात्मा जी ने कहा कि पैदल चलने का निश्चय है इस पर पहले तो वह घबराए पर बाद में प्रसन्नतापूर्वक पैदल-यात्रा करने लगे। बीच में जान-बूझ कर निश्चय किया गया कि पैसे पास नहीं रखने हैं और इस निश्चय के अनुसार बिना पैसे ही शेष यात्रा पूरी की गई। 'परख' के नायक सत्यधन की कश्मीर यात्रा इसी व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। 'हंस' के आत्मकथांक में भी इस प्रवास के दो अनुभव जैनेन्द्र जी ने लिखे थे।

लेखन का आरम्भ

इस समय उन के हाथ आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' पड़ गया। 'अन्तस्तल' के गद्य-काव्यों से वह बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने 'देश जाग उठा' नाम से एक गद्य-काव्य लिखा जिस की प्रेरणा नागपुर में बनारसी भंडारी को झण्डा-सत्याग्रह में हुई चार साल की सजा से मिली थी। यह उन की पहली रचना थी। यह 'प्रभात' नाम से 'कर्मवीर' में छपने भेजी गई। 'कर्मवीर' के लिए इस रचना को भेजते समय आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने नोट दिया था—"श्री जैनेन्द्र जी की पहली चीज 'कर्मवीर' के लिए जा रही है। आप के द्वारा इन के पार्थिव शरीर का परिचय मुझे हुआ था अब तात्विक शरीर का परिचय मेरे द्वारा होने दें। अभी यह नामकरण भी हुआ है। इसे भी पहचान लें। यह वस्तु 'कर्मवीर' का सम्पूर्ण पेज पाएगी। बॉर्डर लगाकर सज-धज से यह पेज निराला छपना चाहिए।

आठ-दस दिन बाद जैनेन्द्र जी ने एक और रचना लिखी। आचार्य चतुरसेन ने उसे 'विश्वमित्र' को भेजा पर वह कदाचित छपी नहीं। उसी समय 'देवी अहिंसे' शीर्षक से 'विशाल भारत' में एक गद्य-काव्य भेजा गया पर उस पर न

जाने कैसे आचार्य चतुरसेन का ही नाम छप गया। कदाचित् सम्पादक की भूल का ही यह परिणाम था। लेकिन इस छपने-छपाने से काम तो चलता नहीं था। जैनेन्द्र जी ने सोचा कि कहीं नौकरी की जाए। 'विशाल भारत' के तत्कालीन सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने आशा दिलाई और कुछ दिन के बाद जैनेन्द्र जी कलकत्ते गए। कलकत्ते में अपने पास की जमा-पूंजी गंवा कर वह लौट आए। वहां काम नहीं बना।

कलकत्ते से लौट कर जैनेन्द्र जी को अकेलेपन की अनुभूति ने जकड़ा। बाईस-तेईस वर्ष की उम्र और पढ़ाई अधूरी। पढ़ाई अधूरी हो तो कोई बात नहीं पर कोई हुनर भी हाथ न था। उन्हें दुनिया उस तिलस्म-सी लगती जिस के सब दरवाजे बन्द हों। हार कर उन्होंने पुस्तकों की शरण ली। घर पर भी उन्हीं से समय काटते। जीवन का यह शुभ समय 'कामतयानी और मटरगश्ती' में बीतता जाता। मानसिक तनाव बढ़ता जाता और वह आत्महत्या की बातें सोचते रहते। ऐसी मनःस्थिति में उन के भीतर का कहानी-लेखक उन्हें बचाने को आगे आया।

हुआ यह कि उन के एक पुराने साथी का ब्याह हुआ। भाभी भाई पढ़ी लिखी थीं जिन्हें पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने का शौक था और जो चाहती थीं कि कुछ लिखें और उस का उचित प्रकाशन हो। जैनेन्द्र जी ने भी मन-ही-मन यही साध रखा था। दोनों ने कहानी लिखना शुरू किया पर भाभी बाजी मार न सकीं। जैनेन्द्र जी के मन में फिर हीन भाव आया लेकिन भाई और भाभी का हो ले कर उन्होंने एक कहानी लिखी जो कहानी नहीं कही जा सकती थी। इस से भाभी भी प्रसन्न हुईं। जैनेन्द्र जी के कथनानुसार यही उन की पहली कहानी थी।

सन् १९२८ के लगभग मैनपुरी षड्यन्त्र केस के श्री कालीचरण शर्मा दिल्ली आए। उन के पास कोई काम न था। उन दिनों रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' निकालते थे। दो जगहें निकलीं। एक पर जैनेन्द्र जी रखे गए और दूसरी पर पं० कालीचरण शर्मा। काम था चिट्ठियां लिखने का और वेतन था सत्तर रुपए। यह नौकरी भी लिन्टीमल जैन की कृपा से मिली थी। तनख्वाह के सम्बन्ध में कहा गया कि राष्ट्र-भावना से काम कीजिए और पैसे कम लीजिए। जैनेन्द्र जी ने नौकरी छोड़ दी। तभी 'महारथी' में श्री शिवदर्शिंह पथिक और मदनानन्द वैद्य आए। पथिक जी के माध्यम से पं० कालीचरण शर्मा को राजस्थान में पच्चीस रुपए मासिक की हेडमास्टरी मिल गई और जैनेन्द्र जी बेकार के बेकार रह गए।

पं० कालीचरण शर्मा ने तीसरी-चौथी कक्षा के विद्यार्थियों को ले कर

'ज्योति' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकाली। उन्हों ने जैनेन्द्र जी से भी उस के लिए कुछ लिखने को कहा। जैनेन्द्र जी ने उन के पत्र के उत्तर में जो कुछ लिखा वह उन्हों ने उस हस्तलिखित पत्रिका में रख लिया। छह महीने बाद जब उन की नौकरी छूटी और वह दिल्ली आए तब 'ज्योति' की फ़ाइलें भी लेते आए। उस में 'खेल' 'चोरी' और 'फ़ोटोग्राफ़ी' ये तीन कहानियां थीं। उन में से एक कहानी 'खेल' 'विशाल भारत' में छपी और उस का चार रुपए का मनीआर्डर भी आया। इस मनीआर्डर से एक ओर उन की मां को प्रसन्नता हुई तो दूसरी ओर स्वयं उन्हों ने भी सोचा कि उन का निकम्मापन भी किसी काम का है।

तदनन्तर हिन्दी प्रचारिणी सभा में पढ़ने के लिए कुछ कहानियां लिखी गईं। उन में एक कहानी 'देश-प्रेम' थी जिसे श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' ने तीन चार महीने तक नहीं छापा और जो श्री देवीप्रसाद धवन 'विकल' के पास संशो धनार्थ भेज दी गई थी। जैनेन्द्र जी ने जैसे-तैसे वह कहानी वापस ली और उस के बदले एक अन्य कहानी देने का वादा किया। उस कहानी का नाम 'स्पर्धा' था। उसे श्री ऋषभचरण जैन के कहने से उन्हों ने प्रेमचन्द जी के पास भेज दिया। जो सधन्यवाद वापस आ गई। उस पर लाल स्याही से लिखा था— "प्लीज़ आस्क वेदर दिस इज़ ए ट्रान्सलेशन (कृपा कर पूछिए कि क्या यह अनुवाद है?) इस पर जैनेन्द्र जी ने 'मास्टर का भेद' नामक एक दूसरी कहानी लिखी और उसे भी प्रेमचन्द जी के पास भेजा, जो उन्हों ने 'हंस' के विशेषांक में छापी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसे पढ़ा तो प्रशंसात्मक पत्र लिखा और जैनेन्द्र जी को 'शरत्' एवं 'परशुराम' दोनों का सम्मिलित रूप बताया। इस प्रकार उन का प्रेमचन्द जी से घनिष्ठ परिचय हुआ जो अन्त तक बना रहा।

विवाह

सन् १९२९ में उन्हों ने अपना 'परख' उपन्यास प्रकाशित कराया जिस पर आगामी वर्ष ५०० रुपए का हिन्दुस्तानी एकादमी का पुरस्कार मिला। इस पुरस्कार से उन में आत्म-विश्वास जमा और वह लिखने के प्रति सजग हो गए। इसी वर्ष उन का विवाह हुआ। उन की पत्नी श्रीमती भगवती देवी को उन्हों ने पहले नहीं देखा था। माता जी ने कहा तो जैनेन्द्र जी ने कह दिया— "तुम ने देख लिया तो काफ़ी है। मुझे इस बारे में कुछ नहीं कहना।" विवाह पर उन्हों ने अपनी ओर से एक भी पैसा खर्च नहीं होने दिया और कोई नया कपड़ा नहीं बनने दिया। बरात में मुज़फ़्फ़रनगर पांच आदमी गए और इस में

कुल साढ़े सत्रह रुपया खर्च हुआ। साढ़े सत्रह की रकम उन्हें इसलिए याद है कि उन के मामा महात्मा भगवानदीन जी ने हिसाब रखा था और पीछे इतना खर्च होने की बात बताई थी। विवाह कुछ राष्ट्रीय भावना के साथ हुआ था और अग्नि-साक्षी या मन्त्रोच्चार आदि की रीति का पालन नहीं किया गया था। विवाह से लौटने पर बैरिस्टर चम्पतराय जी ने उन से कहा कि यह विवाह कानून के लिहाज से वैध नहीं समझा जाएगा और उत्तराधिकार में विवाद हो सकता है। जैनेन्द्र जी ने कहा कि सम्पत्ति उन के पास कभी बनने वाली ही नहीं है, उत्तराधिकार की चिन्ता वृथा है। वह मानते हैं कि श्रीमती भगवती देवी यदि मामूली भी पढ़ी-लिखी नहीं थीं तो यह उन के भाग्य की दृष्टि से वरदान ही सिद्ध हुआ है। उन की-जैसी सब परिस्थितियों में निबाह कर सकने वाली और हर तरह का श्रम और कष्ट सह सकने वाली पत्नी शायद दूसरी नहीं हो सकती थी।

राजनीतिक सेवा

सन् १९३० में महात्मा गांधी का सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उस समय यमुना के किनारे एक कैम्प लगा। उस में सब सत्याग्रही एकत्र थे। सत्याग्रह के लिए निश्चय किया गया था कि जैनेन्द्र जी पहले जत्थे का नेतृत्व करेंगे। जैनेन्द्र जी ने इस बात का विरोध किया और कहा—"नेतृत्व किसी जाने-माने व्यक्ति को करना चाहिए। मुझे यह अधिकार नहीं है कि मैं यह सम्मान प्राप्त करूं। हां, मैं जत्थे के स्वयंसेवक के रूप में नेता के अधीन चलने को तैयार हूं।" इस पर नेताओं और स्वयंसेवकों के दो दल हो गए। स्वयंसेवक जैनेन्द्र जी की ओर थे और नेता नेताओं की ओर। इसलिए जैनेन्द्र जी ने नेतृत्व स्वीकार करने के बजाय पीछे हटना स्वीकार किया और उन्होंने पहाड़ी धीरज पर 'नौजवान भारत सेना' नामक स्वयंसेवकों का एक दल खड़ा किया।

सन् १९३० के आरम्भ में जलियांवाला स्मृति-दिवस के निमित्त एक बड़ा जुलूस निकाला गया। महिलाओं के बाद उस में नौजवान भारत सेना के स्वयंसेवकों का स्थान था। महिलाएं कचहरी पर पिकेटिंग करने के लिए रह गईं। लेकिन कश्मीरी गेट के पुल पर जब गोली चली और लाठी-चार्ज हुआ तब नौजवान भारत सेना के लोग सामने थे। उन में बहुतेरे घायल हुए और कइयों की घटना में मृत्यु हो गई। गोली की खबर सुन कर जैनेन्द्र जी भागते हुए कचहरी से कश्मीरी गेट के पुल के पास आए और उन्होंने देखा कि सड़क के दोनों ओर घायल लोग पड़े हैं। तभी लाल किले की ओर से घुड़सवारों की एक नई

टोली लाठी घुमाती हुई पुल के नीचे से निकली और हर किसी को रास्ते में अपनी लाठी का शिकार बनाते हुए चली गई। सड़क पर पड़े घायलों पर भी सधे हाथों लाठी चलाने में उसे संकोच न था। उस समय जैनेन्द्र जी दोनों सड़कों के बीच के घास के प्लाट पर खड़े थे। इतने में सिपाहियों का उन की ओर ध्यान गया। जैनेन्द्र जी अपनी जगह जमे तो रहे, लेकिन अनुभव किया कि उन के मन में कहीं भय भी है। आखिर दो-चार लाठियां उन पर भी पड़ीं लेकिन उस बीज रूप भय को अपने अन्दर पहचान कर जैनेन्द्र जी ने तय किया कि वह इस अहिंसक लड़ाई में नेता बनने योग्य नहीं हैं। उस के लिए सर्वथा निर्भीक पुरुष चाहिए। जिस लोजपाल मारत सेना के अनेक सदस्य घायल हुए और मृत्यु पा गए, उसी के नेता की हैसियत से उन पर सिर्फ दो चार लाठियां पड़ कर रह गईं ज्यादा आंच न आई, यह विचार उन्हें गहरा त्रास देता रहा।

अन्त में जब अनुभव हुआ कि गांवों में काम शिथिल है तब जैनेन्द्र जी से कहा गया और वह गांव-गांव घूमने लगे। इसी प्रवृत्ति में एक सप्ताह के भीतर उन्हें बुवाना गांव में अपने जत्थे के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। उस समय गांव में बेहद उत्साह था और तनिक इशारा होता तो पुलिस वालों की खैर नहीं थी, लेकिन गांव वाले स्वयं कन्धों पर बैठाकर जैनेन्द्र जी और उन के साथियों को पुलिस वालों को सौंप आए। पुलिस ने भी अतिशय सज्जनता का व्यवहार किया। जेल में मुकदमा चला और उन को 'बी' क्लास दिया गया। उन्होंने मजिस्ट्रेट से कह दिया कि वह इस क्लास के मुस्तहक़ नहीं हैं न इतने सम्पन्न हैं, न पढ़-लिखे हैं इसलिए वह इस क्लास का लाभ नहीं लेंगे और मामूली कैदियों के साथ ही रहेंगे। पर उन्हें जबरदस्ती गोरा बैरक में भेज दिया गया और अगले दिन पंजाब की स्पेशल जेल गुजरात रवाना कर दिया गया।

आस्तिक जैनेन्द्र

गुजरात जेल में फ्रंटियर पंजाब और दिल्ली के सब स्पेशल क्लास राजनीतिक कैदी जमा थे। पुराने क्रान्तिकारी काका पानी से वहां जेल में आ गए थे और फ्रंटियर गांधी अब्दुल गफ्फार खां भी थे। उन दोनों ने गीता-क्लास शुरू की। पं० जयराम गीता के गहरे अभ्यासी थे। वहीं जैनेन्द्र जी को पहली बार गीता का नाम सुनने को मिला और उस से परिचय हुआ। उस से उन के चित्त में गहरी उथल-पुथल मची और एक रोज उन्होंने पाया कि वह आस्तिक हैं। तब की प्राप्त हुई आस्तिकता उन की रचनाओं में व्यक्त देखी जा सकती है मानो वह अब तक उन के विश्वास की रीढ़ बनी हुई है।

वहां तीनों प्रान्तों के बड़े से बड़े नेता लोग जमा थे और हर तरह का सुभीता था। एक गोष्ठी वहां आरम्भ हुई जिसे 'पार्लियामेंट' कहा जाता था। एक दिन जनाब आसफअली साहब जैनेन्द्र जी की कोठरी में आये। कहने लगे कि तुम कल पार्लियामेण्ट में बोले थे। राजनीति में करने-धरने वाले तो हैं लेकिन गहरे जाकर विचार करने वाले नहीं हैं। कल तुम्हें सुनकर मैं यह कहने आया हूं कि तुम्हें राजनीति में सक्रिय होना और आगे आना चाहिए। जैनेन्द्र जी ने कहा कि वे निश्चय कर चुके हैं कि वे राजनीति से एकदम बाहर रहेंगे। आसफअली साहब ने बहुत कहा लेकिन गांधी जी के युद्ध की अहिंसक नीति को और उसकी परीक्षा में पड़ने को देखकर उनका निर्णय बन चुका था, जो अब तक कायम है।

जेल उन्हें सन् ३२ में भी जाना पड़ा। बात यों हुई कि प्रेमचन्द जी ने तार से तारीख के साथ उन से कहानी मंगाई थी पर बाहर आन्दोलन छिड़ चुका था और कहानी उन से लिखी ही नहीं जाती थी। तीन चार रोज इस कष्ट में बिता कर उन्होंने एक पुर्जा लिया और पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति को जो तब दिल्ली-कांग्रेस के अध्यक्ष और डिक्टेटर थे लिख दिया कि अमुक तारीख से मेरा नाम वालंटियरों में दर्ज कर लीजिए। यह पर्चा लिखकर भेजना था कि तभी चित्त समाहित हो गया और उन्होंने प्रेमचन्द को तत्काल कहानी लिख भेजी। (इस के चौथे दिन ही इन्द्र जी का पत्र ले कर दिल्ली के दो अन्यतम सज्जन उपस्थित हुए कि इन्द्र जी के बाद आप को डिक्टेटर होना है।) जैनेन्द्र जी को बहुत बुरा मालूम हुआ। तैयारी वालंटियर बनने की थी डिक्टेटर बनने की नहीं। लेकिन उपाय न था और इस हैसियत से फिर उन्हें घण्टा-भर पर कानून तोड़ने के लिए गिरफ्तार होना पड़ा। (फिर पहले वाला क्रम दुहराया गया और इस बार 'बी' क्लास दे कर उन्हें गुजरात भेज दिया गया।) इस जेल के प्रवास में भी एक घटना घटी। नेतृत्व के दो प्रतिस्पर्धी थे और उस बैरक के वासियों ने सभा करके निश्चय किया कि जैनेन्द्र जी उन में किसी एक को चुन दें। चुनाव से परिस्थिति की कुछ बाधा आ गई और बाद के कुछ दिन ऐसे निकले कि अनुपाई जैनेन्द्र जी को निबाहनी पड़ी। उसी बीच एक दिन जेल के डाक्टर गर्माए लाठी घुमाते हुए बैरक में आ धमके। बोले "तलाशी ली जाएगी।" आगे जैनेन्द्र जी को होना पड़ा। पूछने पर कि तलाशी में पाना क्या चाहते हैं, बताया गया कि बैरक में दवात-कलम है और नाजायज चिट्ठियां लिखी जाती हैं। जैनेन्द्र जी ने कहा—"आइए दवात-कलम तो मेरी कोठरी में है ले जाइए।" बात आई-गई हुई लेकिन लाठी घुमाते हुए जाकरों की

सूरत उन के मन में रही और कहीं भीतर दहशत भी पैदा करती रही। यह फिर दूसरा सबूत था उन के लिए कि नेतृत्व उन्हें कभी अपने ऊपर नहीं लेना है। तब से उन्हों ने फिर कभी उस ओर नहीं देखा।)

जेल में लिखना लगभग नहीं हुआ पढ़ना अलबत्ता होता रहा। गुजरात जेल में सिर्फ दो कहानियां लिखी गई—'अमित चित्त' और 'साधु की हठ' जो उन के 'वातायन' नामक कहानी-संग्रह में हैं। कानपुर के धार्मिक नेता राजा राम शास्त्री को जेल में यह देख कर विस्मय हुआ कि कहानी कैसे एक-पर-एक वर्के के साथ एक सपाटे में लिख दी जाती है।

जैनेन्द्र जी जब मुलतान जेल में थे तब उन्हें 'साकेत' की प्रति मिल गई। उसी समय काशी से विनोदशंकर व्यास ने 'जागरण' का आरम्भ किया था और पहले अंक के पहले पृष्ठ पर जयशंकर 'प्रसाद' की कविता निकली थी। प्रेमचन्द जी के पत्र मिलते रहते थे और 'जागरण' कुछ दिन बाद विनोदशंकर जी के पास से प्रेमचन्द पर आ गया और पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया। प्रेमचन्द जी जब-तब अपनी रुचि की किताबें भेजते रहते थे और जैनेन्द्र जी से उन पर समालोचनाएं प्राप्त करते रहते थे।

जेल से लौटने पर ऋषभचरण जैन मिले। सन् २७ से भी पहले लिखे पन्नों को ऋषभचरण उठा लाए थे और मुलतान जेल में सूचना दी थी कि वह जैनेन्द्र जी के मन के मुताबिक कहानी पूरी करके 'तपोभूमि' नाम से छाप रहे हैं। जैनेन्द्र जी एक तरह से उन पन्नों को भूल चुके थे। उन्हों ने आपत्ति न की और जब तक वह जेल से आए तब तक 'तपोभूमि' छप चुकी थी। ऋषभचरण का प्रकाशन-व्यवसाय था और 'चित्रपट' नाम की पत्रिका भी निकलती थी। सन् ३१ में जैनेन्द्र जी की तीन कहानियां 'फांसी' नाम से उन्हों ने ही छापी थीं और लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन में एक पूरा संस्करण बेच डाला था। धर्मनिर्भ चीज थी और मुखपृष्ठ पर फांसी का हौलनाक चित्र था। शायद इस पुस्तक से क्रान्तिकारियों का ध्यान जैनेन्द्र जी की ओर गया और उस के परिणामस्वरूप सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' उन्हें प्राप्त हुए। उसी किताब की बदौलत मौका आया कि वह 'भगवती' और 'यशपाल इलाही' जैसे क्रान्ति-दलों के संस्थापकों के सम्पर्क में आए। लेकिन बहुत जल्दी मालूम हुआ कि बीच में कहीं भ्रम है क्योंकि जैनेन्द्र जी एकदम अहिंसा के पक्ष में थे और इन क्रान्तिकारी बन्धुओं को अहिंसा एकदम अप्रिय थी। यह भ्रम निश्चय ही 'फांसी' की कहानियों से हुआ होगा।

'सुनीता' का जन्म

यहां फिर ऋषभचरण मिले और उन्होंने आग्रह किया कि 'चित्रपट' में कुछ धारावाहिक लिखना होगा। बात चलती गई कि अन्त में एक रोज ऋषभचरण ने जैनेन्द्र जी को घर पर बुलाया और अचानक दरवाजा बन्द कर दिया। लिख कर नीचे चिट सरका दी कि पहला परिच्छेद लिख दोगे तब दरवाजा खुलेगा। ऐसे 'सुनीता' का आरम्भ हुआ। जो पंक्तियां लिखी गई वे 'चित्रपट' के अगले अंक में ही छपीं—इस विज्ञापन के साथ कि उपन्यास क्रमशः इस पत्रिका में निकलेगा। सप्ताह के सप्ताह उनका आदमी आता और जैनेन्द्र जी से नई किस्त लिखा ले जाता। दो-तिहाई उपन्यास इस तरह छपा होगा। अब सीधा किताब में गया। ऐसे यह 'सुनीता' बनी जो अब तक विवाद का विषय मानी जाती है।

'त्यागपत्र' और 'कल्याणी'

इस के पश्चात् हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई के मालिक नाथूराम 'प्रेमी' जी ने जैनेन्द्र जी से कहा कि एक सौ के लगभग पृष्ठों का उपन्यास तुम्हें देना है। 'प्रेमी' जी द्वारा जैनेन्द्र जी हिन्दी साहित्य में आए थे और अपने को उनका कृतज्ञ अनुभव करते थे। इस लिए आग्रह टल नहीं सकता था और 'त्यागपत्र' की सृष्टि हुई। 'त्यागपत्र' लोकप्रिय हुआ और 'प्रेमी' जी के अनुरोध पर फिर 'कल्याणी' की रचना हुई। इस की प्रेरणा के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी का कथन है—"दिल्ली में उड़िया भाषा की सफल कवयित्री कुन्तल कुमारी डाक्टरी की प्रैक्टिस करती थीं। उन का अचानक देहान्त हो गया। दिल्ली के साहित्यिक क्षेत्र में वह अच्छी परिचित थीं और अभ्यर्थनीय मानी जाती थीं। कल्याणी मानो जैनेन्द्र जी की ओर से उन्हीं की स्मृति का तर्पण है।" यह सन् ३७-३८ तक की बात है।

इसी समय एक दुर्घटना हुई। कलम चलती थी पर जबान बन्द थी। दुर्योग ऐसा हुआ कि कांग्रेस में उत्सव हुआ और जैनेन्द्र जी ने पाया कि मंच पर बोलने के लिए उन्हें खींचा जा रहा है। बोलना विफल नहीं समझा गया लेकिन उससे कलम जो बन्द हुई तो बारह चौदह साल तक फिर लगभग उठी ही नहीं। इस में एक कारण और भी हुआ। उनकी विचार धारा पैसे पर जाकर अटकती और टकरा कर रह जाती थी। पैसे पर इस बीच कई लेख लिखे गए थे और कहानियां भी बनी थीं। अब का मूल आधार यह था कि धनार्जन की पद्धति कृत्रिम है और धन के द्वारा आत्मा का लाभ उतना नहीं होता जितना शोषण

होता है। लेकिन उनके लिखने से कुछ कमाई भी होने लगी थी। बस लेखनी के साथ इस कमाई का योग उन के मन को ठीक नहीं लगा। पैसे की जरूरत तो रहती ही थी लेकिन वह पैसा अनायास क्यों न आए—पुस्तक देकर क्यों कमाया जाए? कुछ इसी तरह के चक्कर में कमाई करने वाली कलम को उन्हों ने विश्राम दे दिया और वह जगह-जगह बोलने जाने लगे। बोलने के विषय विविध हो जाते थे—कहीं साहित्य कहीं जैन तत्त्व और मत, कहीं अहिंसा और देश-नीति इत्यादि। उन के कहने के अनुसार वास्तव में उन की गति इन में से किसी में भी नहीं थी पर जो पूछ थी सो थी। इसी काल की चर्चाओं और वक्तव्यों को ले कर कुछ ग्रन्थ-संग्रह निकल गए हैं—प्रश्नोत्तर के रूप में भी कुछ बना और प्रकाशित हुआ है।

पुनरागमन

यह स्खलन अकस्मात् हुआ था। कई रचनाएं थीं जो शुरू हुईं, पर वहीं छूट गईं। उन्हें आगे नहीं बढ़ाया जा सका। 'एक राजकुमार का वैराग्य' वगैरह अब तक याद है जो दो-तीन अंकों में 'हंस' में निकला था। इसी तरह दो-एक छूटी रचनाएं और भी हैं जो आगे पूरी हो पाएंगी भी कि नहीं। उन्हीं में 'सुखदा' के कुछ पृष्ठ लिखे पड़े थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र दिलीप कुमार ने उन पन्नों को लिया टाइप किया और 'धर्मयुग' से क्रमशः छापने की विधि बैठा ली। अब तक जैनेन्द्र जी को इस का पता न था न 'धर्मयुग' के सम्पादक सत्यकाम जी को विश्वास हुआ कि जैनेन्द्र जी उपन्यास पूरा करेंगे। दिल्ली आ कर उन्हों ने कहा—"आप के पुत्र से बात पक्की हो गई है। हम ने पैसा भी लगा दिया है और विज्ञापन भी कर डाला है। उपन्यास आप को पूरा करना ही है। ऐसे वर्षों बाद 'सुखदा' उपन्यास का आरम्भ हुआ। उस का छपना शुरू होना था कि देवदास गांधी का उन पर तकाजा पड़ा। उन्हों ने कहा कि दिल्ली छोड़ कर बम्बई के पत्र को आप का उपन्यास पाने का क्या अधिकार था। फलतः 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में तत्काल बाद 'विवर्त' शुरू करना पड़ा। इसी समय रेडियो के श्री नारायण मेनन उन से बिगड़े। उन्हों ने 'त्यागपत्र' रेडियो से अंग्रेजी में किया था। बोले— तुम उपन्यास लिखने लगे हो तो यह क्या कि रेडियो से अनुवाद जाए। एक उपन्यास मूल हिन्दी में रेडियो पर तुम्हें देना है।" ऐसे 'व्यतीत' की रचना हुई।

उपन्यास का क्रम 'व्यतीत' के बाद फिर टूट गया। न किसी और से तकाजा हुआ न लिखना हो पाया। दो-एक वर्ष बाद चन्द्रिका प्रसाद खरे आग्रही हो गए।

दूर से साइकिल पर आते और इतवार के इतवार कुछ लिख ले जाते। इस में व्यतिक्रम भी काफी पड़ा। दो महीने जैनेन्द्र जी दिल्ली से भी घूम आए। आखिर 'जयवर्द्धन' के इस सिलसिले को शिवकुमार ने संभाला और चार सौ के आस पास की जो पुस्तक चाही गई थी सो 'जयवर्द्धन' नाम से पूरी हुई।

सूक्ष्म के प्रति लगन

जैनेन्द्र जी अपने लिखने के बारे में जैसा चाहिए, वैसे सावधान नहीं रहे हैं। उस ओर शायद उन में लगन नहीं। लगन यदि किसी ओर है तो वह कुछ सूक्ष्म वस्तु होगी, जो उन्हें बरबस दार्शनिकता की ओर खींच ले जाती है। दर्शन नीरस विषय है और साहित्य का दारोमदार रस पर है। इन दोनों का मेल कैसे होता है समझ में आना कठिन है। लेकिन तकाजे पर जैनेन्द्र जी कहानी या उपन्यास लिखने से अब भी मुँह नहीं मोड़ते हैं यद्यपि इधर की रचनाएँ भले ही वे कहानियाँ या उपन्यास ही क्यों न हों दार्शनिकता से कुछ भारी और बोझिल पड़ जाती हैं।

९ कहानी-संग्रह

उन के अब तक ९ कहानी-संग्रह निकले हैं। अंतिम नौवें भाग में अधिकांश विचारात्मक कहानियाँ हैं। प्रेम और विवाह को ले कर जैनेन्द्र जी क्या सुझाव देना चाहते हैं पता नहीं चलता, लेकिन उन की कहानियाँ उस उलझाव को इस तरह अवश्य प्रस्तुत करती हैं कि प्रश्न सजीव हो कर उभर आता है। वह तात्त्विक ही नहीं रहता संवेदना का भाग बन जाता है। आठवें भाग के प्रकाशकीय वक्तव्य से पता चलता है कि उन की कहानियों का आरम्भ अधिकतर उस एक वाक्य से हुआ है जो लिखने वाले को अपनी ओर से बोलना पड़ा है। जैनेन्द्र जी लिखते नहीं हैं, लिखाते हैं और आरम्भ की पुस्तकों 'परख' और 'वातायन' के अतिरिक्त सब कुछ लिखाया ही गया है। इधर मानो उनके पास लिखने की मोहलत नहीं रह गई है। मांग और अनुरोध पर लिखते हैं तो लिपिक से ही पूछते हैं कि बोलो क्या लिखा जाए। लिपिक अन्त में वाक्य बोलता है और कहानी प्रारम्भ हो जाती है।

(हाल ही रेडियो पर उन्होंने 'मुक्तिबोध' नामक उपन्यास देना स्वीकार किया है। टुकड़े के टुकड़े वह लिखा जाता है और अधिकतर तो किस्त उसी दिन तैयार होती है जिस दिन ब्राडकास्ट होनी होती है। देखना है कि यह उपन्यास पाठक के सामने क्या-क्या लाता है।

'समय और हम' इतर ढंग की रचना है। कृति से अधिक उसे एक घटना ही कहना चाहिए। जैनेन्द्र जी का प्रकृत और परिपूर्ण रूप उस में आ जाता है। शिल्प विन्यास का उस में अवकाश नहीं है न व्यंग्य-व्यंजना का। प्रश्न जो सामने आते गए हैं उन के उत्तर में उन्हें तत्काल निर्व्याज भाव से अपने को खोल देना पड़ा है। इस से यह कृति उन के व्यक्तित्व के दर्पण के रूप में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

सार्वजनिक प्रवृत्तियां

जैनेन्द्र जी अपने में ही केन्द्रित या घिरे नहीं हैं, यद्यपि बाहर की उन्हें आसक्ति है यह कहना कठिन है। सार्वजनिक प्रवृत्तियों में उन्हें अरुचि नहीं है, बल्कि अपनी जगह पर उन की उपयोगिता भी वह मानते हैं। स्वराज्य के बाद ही भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और यूनो के सांस्कृतिक पक्ष यूनेस्को का सक्रिय सदस्य बना। (जैनेन्द्र जी उस यूनेस्को के नेशनल कमीशन के जनरल काउंसिल के सदस्य ही नहीं नियुक्त हुए, बल्कि उस की कार्य-समिति में भी चुने गए। उस की ओर से अनुवाद-उपसमिति और गांधी-विचार-प्रसारण उपसमिति के सदस्य रहे। (भारत में होने वाले पहले एशियाई लेखक-सम्मेलन के वह संयोजक थे और उस की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के एक अध्यक्ष थे। संचालन समिति की अध्यक्षता भी उन्हीं को निबाहनी पड़ती थी) उस के दूसरे ताशकन्द अधिवेशन के लिए भी भारतीय समिति के वह संयोजक थे लेकिन ताशकन्द जाने से उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि वहां भारतीयता के पक्ष का प्रतिनिधित्व न हो सकेगा। इस के अतिरिक्त अन्य अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशनों में भी उन्होंने भाग लिया। वेनिस में होने वाले टाल्स्टाय-शताब्दी-परिषद् में भी राजाराव के साथ वह भारत के एकमात्र साहित्यिक प्रतिनिधि थे। भारत सरकार की ओर से जैनेन्द्र जी बर्मा साहित्य-महोत्सव में भारत के अकेले प्रतिनिधि रह गए जबकि श्री ताराशंकर बंद्योपाध्याय को अस्वस्थता के कारण रंगून से लौट आना पड़ा था। लंका के राजकीय स्तर पर होने वाले साहित्य-समारोह में भी भारत के तीन प्रतिनिधियों में उन को भेजा गया था। भारतीय साहित्य अकादमी की प्रस्थापना पर उन्हें उस की जनरल काउंसिल और कार्य-समिति का सदस्य मनोनीत किया गया था। लेकिन इन सब प्रवृत्तियों में उन का चित्त रम नहीं सका। कारण उन में राजनीति का समावेश हो जाता है और सृजन शीलता का अवकाश नहीं रह जाता। दिल्ली के सार्वजनिक जीवन में भी उन का स्पृहणीय स्थान है, यद्यपि किसी राजनीतिक दल से उन का सम्बन्ध नहीं है।

अन्तरराष्ट्रीय लोकप्रियता

जैनेन्द्र जी का साहित्य प्रारम्भ से ही हिन्दी-क्षेत्र से बाहर भी अपना प्रभाव फैलाने लगा था। 'परख' निकलने के दो वर्ष के अनन्तर उस का अनुवाद दो अन्य प्रादेशिक भाषाओं—गुजराती और तेलगू—में हो गया था। उस के बाद जहां-तहां से अनुवाद की अनुमति के लिए पत्र आते रहे और जैनेन्द्र जी उस सम्बन्ध में उदासीन रहे। वह अपनी रचनाओं का फुटकर प्रकाशन नहीं चाहते थे और इसलिए अनुमति देने से इन्कार करते रहे। अंग्रेजी में केवल अब तक 'त्यागपत्र' का अनुवाद हुआ है। यद्यपि उस अनुवाद का प्रकाशन हुआ-न-हुआ जैसा है। तथापि अंग्रेजी के द्वारा यह पुस्तक कई अन्य विदेशी भाषाओं में पहुंच चुकी है, जिन में जर्मन, स्लोवेनियन (यूगोस्लाविया की भाषा), फिनिश, फ्रैंच, अरबी आदि प्रमुख हैं। तेलगू में इन चार-पांच वर्षों में लगभग बारह ग्रन्थ निकल चुके हैं और वे वहां अत्यंत लोकप्रिय हुए हैं। गुजराती और मराठी में भी उन की अनुमति के बिना कुछ कृतियां निकली हैं (मलयालम, तमिल और उड़िया में वर्षों पहले 'त्यागपत्र' निकला था) मलयालम और तमिल में दूसरी कुछ पुस्तकों का भी अनुवाद हुआ है। रूस और चीन में उन की पुस्तकों के अनुवाद की योजना बन रही है।

पारिवारिक जीवन

जहां तक पारिवारिक जीवन का सम्बन्ध है जैनेन्द्र जी अपने को सफल नहीं मानते। अब तक छोटे से किराए के मकान में रहते हैं जहां सब तरह की असुविधा है और आराम किसी बात का नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं मालूम होता कि जैनेन्द्र जी को इस का कष्ट है या इस का विचार तक है। धन की आय अनिश्चित रही है और यद्यपि 'पूर्वोदय प्रकाशन' चल रहा है तब भी मानो वह उन का नहीं है, पारिवारिकों का है। हाल में 'पूर्वोदय प्रकाशन' को लिमिटेड कर दिया गया है और सुना है कि उस में जैनेन्द्र जी ने अपना शेयर नहीं रखा। कुसुम, कुमुद और कनक उन की तीन कन्याएं हैं और तीनों का विवाह हो चुका है। विवाह का प्रश्न अपने समाज में काफी जटिल हुआ करता है। मालूम नहीं इसे जैनेन्द्र जी की कुशलता माना जाए या भाग्य या संयोग कि कन्याओं के विवाह पर्याप्त संतोषजनक हुए हैं। दो पुत्र दिलीप कुमार और प्रदीप कुमार हैं, जो पूर्वोदय प्रकाशन का काम देखते भालते हैं। दोनों सुशिक्षित और सुशील हैं। यह भी जैनेन्द्र जी का बड़ा सौभाग्य है।

जैनेन्द्र जी स्पष्टवादी, सरल और ईमानदार व्यक्ति हैं। बात करते समय उन के मस्तक की रेखाएं और सुदूर विचार-लोक में खोई आंखें इस बात का प्रमाण देती हैं कि इस व्यक्ति के पास प्रत्येक समस्या का मौलिक विश्लेषण और उसे विश्वसनीय ढंग से प्रकट करने की शक्ति है। उन के घर और कार्यालय में कहीं भी पुस्तकों अथवा पत्रों-पत्रिकाओं की सजावट नहीं है जो यह बताएं कि यह व्यक्ति अध्ययनशील है और न चीजें ही अस्त-व्यस्त बिखरी मिलती हैं जो यह बताएं कि यह लापरवाह और फक्कड़ कलाकार है। जैसे वह एक तरह से अपने ड्राइंग-रूम को सजा सकते हैं और अच्छे कपड़ों की अपने शरीर के लिए आवश्यकता समझते हैं। वैसे ही वे अपने कुछ विचारों से दीन-दुनिया की समस्याओं का हल प्रस्तुत कर देते हैं। वह आदर्शवादी हैं, पर उन के आदर्श जड़ नहीं हैं। उन में संवेदनशीलता पर्याप्त मात्रा में है। (शैली के अभिनव प्रयोगों की दृष्टि से वह हिन्दी में प्रथम कोटि के शैलीकार माने जाते हैं) पर उन्हें टैकनीकल शब्द से घृणा है। उन की साधना कबीर की 'सहज' साधना है। सप्रयास वह कोई काम नहीं करते, स्वाभाविक रूप से जो हो जाए सो ठीक है। वह कम हंसते हैं पर जब हंसते हैं तब पूर्ण निश्छलता और गहराई के साथ। उन के कथन का ढंग कितना ही तीखा हो पर वह व्यंग्यात्मक होता है। वह किसी कार्य के महत्व को नष्ट करना या कम करना पसन्द नहीं करते, वरन् उस की ओर शालीनता से व्यंग्य करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। अहंता उन के स्वभाव में रत्ती-भर नहीं है। आडम्बरहीन सरलता ही उन के व्यक्तित्व और चरित्र की शक्ति का मूल कारण है। वह शतरंज और कुश्ती में बचपन में बड़े माहिर थे और तैराक तो ऐसे थे कि एक बार महिलाश्रम की एक छात्रा को अपनी जान खतरे में डाल कर डूबने से बचा लाए थे। अपने साहित्य में वह सत्य को भले ही निराकरण करके देख लें पर व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाशील और चिन्तक ही बने रहते हैं। इस प्रकार वे रहस्यमय व्यक्ति हैं जिन की थाह पाना कठिन कार्य है।

बचपन की झलकियां

—महात्मा भगवानदीन

जैनेन्द्रकुमार के बालकपन पर कुछ लिखना बिल्कुल अधूरा रह जाएगा अगर उन के मां-बाप को बिल्कुल प्रकाश में न लाया जाय। मेरा तो यह ख्याल है कि उन को जितना प्रकाश में लाया जाएगा उतना ही जैनेन्द्रकुमार को समझने में आसानी होगी।

जैनेन्द्रकुमार की माता का जन्म खाते-पीते घराने में हुआ था और अगर उन दिनों लड़कियों को तालीम या ऊंची तालीम बुरी नजर से न देखी जाती होती तो वह उस योग्य जरूर थी कि बड़ी आसानी से ऊंची से ऊंची डिग्री पा सकती थी क्योंकि घर में साधनों की कमी न थी। यह ठीक है कि उन दिनों लड़कियों को विद्या नहीं दी जाती थी और अपढ़ भी रखा जाता था। पर उन्हें मूर्ख या अजान कभी नहीं रखा जाता था। घर के काम से वे खूब वाकिफ होती थीं। और अगर शासन-कला बुरी चीज नहीं है तो यह उन्हें काफी से ज्यादा सिखा दी जाती थी। बारह बरस की लड़की भी ब्याह हो कर अगर उसे मौका दिया जाए तो बड़ी दुकान संभाल सकती थी जमींदारी संभाल सकती थी और अगर गरीब घराने में पैदा हुई हो तो अपने खाने-पहनने का इन्तजाम कर सकती थी। यही वजह थी कि जैनेन्द्रकुमार की मां को जब जैसा अवसर मिला उन्होंने उस अवसर पर अपने आप को उस के काबिल साबित कर दिखाया। यों जैनेन्द्रकुमार एक बड़ी योग्य माता की देन हैं।

जैनेन्द्रकुमार के पिता अपने हाथ-पांव पर भरोसा करने वाले घराने में पैदा हुए थे। उस घराने के लिहाज से जितनी तालीम मिल सकती थी उतनी तालीम उन्होंने जरूर पाई। पटवारी का इम्तहान पास थे। पर हाथ-पांव पर भरोसा करने वाले होने की वजह से पटवारी का काम उन्होंने कभी किया नहीं। हां कुछ दिनों स्टाम्प-फरोशी जरूर की। पर वह नौकरी नहीं थी। उस से घर का मामूली काम चलता था। पर ज्यादा काम तो उसी से चलता था जो वह अपने हाथ-पांव की मेहनत से कमाते थे। वह अपनी जवानी में हिसार में सब से

अभ्यस्त थे। कहानी कहते थे तो सीन खड़ा कर देते थे। उन की कहानी सुनने में ऐसी अच्छी लगती थी जैसी मुंशी अजमेरी की। दोनों की कहानियाँ हम ने सुनी हैं। जैनेन्द्रकुमार के पिता को अगर अवसर मिलता तो वह अच्छे साहित्यकार सिद्ध हो सकते थे और अच्छे इंजीनियर भी।

यह थे जैनेन्द्रकुमार के पिता और उन की इस देन से जो भी आज तक हम ने पाया वह इतना नहीं है कि हमें कुछ अचरज हो।

(जैनेन्द्रकुमार का जन्म सन् १९०५ की लेकट चौथ को हुआ) अभी नाम रखने का दिन भी न आया था कि बाल-जैनेन्द्र के माथा निकल आई। इतना ही अच्छा हुआ कि वह बहुत ज़ोर की न थी। पर वह दृश्य हमारी आँखों के सामने है जब बाल-जैनेन्द्र अपनी कोहनी खाट पर टेक कर, बड़ी कोशिश से हाथ उठा कर और सिर्फ़ कलाई पर हाथ मोड़ कर अपने चेहरे पर की मक्खी उड़ाता था। हो सकता है उस काम में उस के लिए बहुत बड़ी कोशिश रही हो पर हमारे लिए तो वह तमाशा ही था। उन दिनों हम ११ वर्ष के थे पर किसी वजह से सोहर[1] जाने से न रुक सकते थे। इसलिए हम और जैनेन्द्रकुमार की माँ दोनों ही घंटों बाल-जैनेन्द्र का यह खेल देखा करते थे। हम चाहते तो मक्खी उड़ा सकते थे, और कभी-कभी उड़ा भी देते थे। पर मुँह पर पड़ी मक्खी को उड़ाते देखने में ही मज़ा आता था। बाल-जैनेन्द्र की उस समय की हरकतों को देख कर हम न जाने अपने मन में क्या-क्या सोचा करते थे। और, छठे दिन नाम रखने का वक़्त आया और पंडित ने यह भविष्यवाणी की कि बाल-जैनेन्द्र अपने बाप के लिए बहुत भारी साबित होगा। उस का यह कहना था कि बाल-जैनेन्द्र अपने बाप की निगाहों से उतर गए और सन् १९०७ में जब वह बीमार पड़े और बाल जैनेन्द्र को उन की गोद में दिया गया तब वह उस को थोड़ी देर ही ले पाए थे कि उन को कुछ तकलीफ़ शुरू हुई और उन्हों ने तुरन्त ही बाल-जैनेन्द्र को यह कह कर कि यह मुझे खा कर ही रहेगा उस की माँ के सुपुर्द कर दिया। और उसके कुछ महीनों के बाद वह सचमुच ही चल बसे।

(जैनेन्द्रकुमार इस तरह बाप के गुण ही विरासत में पा सके। और कुछ तो क्या उन का प्यार भी उन्हें न मिला। पर जिस के भाग्य में प्यार बदा है, वह उस को क्यों न पाए ? बाप का प्यार तो न मिला पर (मामा के वह इतने प्यारे बन गए कि १५ वर्ष की उम्र तक वह यही न समझ पाए कि मामा उनके मामा

सन् १६०७ में ही जैनेन्द्रकुमार अपनी माँ समेत अपने मामा के गए और वहां इतने एकमेक हो गए कि रिश्तेदारों को छोड़ कर कोई कभी यह जान ही न पाया कि उन के बाप जीवित नहीं हैं।

बहनों के प्यारे

जैनेन्द्रकुमार की दो बहनें हैं, दोनों ही बड़ी हैं। उन में से एक तो इतनी बड़ी है कि वह जैनेन्द्रकुमार को इतना प्यार करती है जितना प्यार शायद उन को माँ से भी न मिला होगा। जब जैनेन्द्रकुमार छोटे थे तब उन की बड़ी बहन उन के लिए अपने खिलौने और अपनी खाने-पीने की चीजें ऐसे ही संभाल कर रखती थी, जैसे माँ बेटे के लिए। इस बहन की शादी बड़ी होते हुए भी इस लिए न हो पाई थी कि वह हमेशा अपनी नानी के पास रही। और उस की नानी बहुत छोटी उम्र की शादी के खिलाफ थीं। हां, छोटी बहन की शादी उन्हीं दिनों हुई थी, जब जैनेन्द्रकुमार लोहर में थे।

जैनेन्द्रकुमार पर बाहरी असर जितना माँ और मामा का है उतना ही असर उन की बड़ी बहन का भी है। उन की बड़ी बहन आज जीवित नहीं है परन्तु यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्रकुमार ने उन से बहुत कुछ लिया।

भोला बालक

हमारा यह ख्याल है कि जो आदमी बचपन में जितना भोला होता है उतना ही बड़ेपन में उसे होशियार होना चाहिए। बचपन में भोलेपन के माने हैं सच और झूठ में भेद न करना, सभी को सच समझना और हर चीज को लेने के लिए तैयार रहना। ऐसे भोले बालकों के साथ कोई आदमी धोखेबाजी कर के उन को बेहद बुरा बना सकता है। और अगर वही बालक किसी भले आदमी के पाले पड़ जाए तो बहुत भला बन सकता है। अब जैनेन्द्रकुमार के बचपन के भोलेपन का कुछ हाल सुनिए।

एक बार बाल-जैनेन्द्र को ज़ोर का पेशाब लगा। माँ और मामी दोनों ही घरेलू काम में इतनी लगी हुई थीं कि एक-दो बार तो उन्होंने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि वह क्या कह रहे हैं और जब ध्यान दिया तो व्यंग्य और गुस्से से भरा हुआ। बाल-जैनेन्द्र ने पूछा—

"अम्मा मुत्ती कहां करूं ?"

"कर ले चूल्हे में।"

बाल-जैनेन्द्र को व्यंग्य और गुस्से से क्या लेना ! वह सीधे चूल्हे पर पहुंचे

और बड़े आराम के साथ पेशाब कर आए। मामी ने देखा तो हँस पड़ीं और उन्हें पकड़ कर अपनी जीजी यानी उन की माँ के पास ले गईं। वह भी यह सब सुन कर हँस दीं। बच्चे को गले लगाया और कुछ समझा दिया। मामला यहीं तक न रहा। जब उन के मामा घर आए तब उन की माँ ने शिकायत की शक्ल में उन से यह कहा कि देखो इस ने आज चूल्हे में पेशाब कर दिया। उन्होंने ज्यादा पूछ-ताछ तो की नहीं उन के एक थप्पड़ जड़ दिया। जैनेन्द्र थोड़े-से रोए, उस के बाद फिर चूल्हे में पेशाब करने की बात उन्हें कभी न सूझी और वह फिर कभी माँ या मामी के धोखे में न आए।

मामा को जैनेन्द्र बहुत प्यारे थे। मामा ने प्यार में इनका नाम बन्दर रख छोड़ा था और बन्दर नाम रखने की वजह यह थी कि बन्दर के नाम से पुकारे जाने पर यह भी ऊं ऊ की आवाज निकालते थे। यह बिल्कुल बन्दर से मिलती जुलती होती थी। मामा की बन्दर की आवाज पर यह इतने लट्टू थे कि सोते हुए भी जाग पड़ते थे। इस की वजह यह भी थी कि जब भी इन्हें आवाज लगती थी तो या तो कुछ खाने-पीने की चीज मिलती थी और ऐसा न हुआ तो गोदी में कुछ दूर टहलने का मौका तो मिलता ही था। मामा भी इन को अजब ढंग के मिले थे, जो रात को दो बजे भी इन्हें जगा कर गोदी में टहलाने ले जाते थे। इस सब प्यार का एक नतीजा और हुआ। एक मरतबा इन की माँ की रजाई पर कोयले की एक चिन्गारी गिर पड़ी थी और उस में इतना सुराख हो गया था जिस में बाल-जैनेन्द्र की अंगुली आ सकती थी। बस अब इन का यह हाल था कि जैसे ही बन्दर की आवाज सुनी और इन्होंने अपनी अंगुली रजाई के उस सुराख में इसलिए डाली कि उसे बड़ा करके मामा को देखूं। पर उस से तो उल्टा सुराख बन्द हो जाता था और फिर यह जोर लगाते थे। इस तरह सुराख यहाँ तक बड़ा कर लिया गया कि यह बन्दर की आवाज सुनकर फौरन ही जाग जाते थे और कोशिश करके बड़ी तेजी से अपना सिर उस में होकर निकाल लेते थे और तब ऊ ऊ कहते थे। क्योंकि यह मन-बहलाव का खेल बन गया था, इसलिए रजाई के उस सुराख की मरम्मत नहीं की जाती थी।

कुछ दिनों बाद जैनेन्द्रकुमार अपनी सूझ-बूझ से काम लेने लगे। मामा के साथ रहने के यह बड़े शौकीन थे इसलिए जब मामा खाने बैठते थे तब यह उन के जूतों पर जा बैठते थे—इस दूरन्देशी से कि मामा जब बाहर जाएंगे तब जूते पहनेंगे ही और बस फिर हम उन के साथ हो लेंगे। पर जब मामा को यह पता चला तो उन्हें एक दिन इन्हें धोखा देने की सूझी और वह जूता पहने बगैर दूसरे रास्ते से चल दिए। जब काफी से ज्यादा देर हो गई तब बाल-जैनेन्द्र

तमाशा करते हुए अन्दर आए और तब अपनी माँ से पूछने कि मामा कहाँ हैं ? बस यह जवाब सुन कर कि मामा तो बड़ी देर हुई चले गए, यह माँ और मामी पर पिल पड़े कि उन्हें यह तब क्यों नहीं बताया गया। और उन्हों ने तो माफ़ी माँग कर समझा-बुझा कर इन से पीछा छुड़ाया पर मामा से जो यह रूठे तो तभी माने जब उन्हों ने यह कह दिया कि अब वह ऐसा नहीं करेंगे। और, उन्हों ने अपना वचन निभाया।

बाल-जैनेन्द्र ने कहीं किसी से सुन लिया या शायद सीधे किसी ने उन से यह कह दिया कि रुपया को बोने से उग आता है उस का पेड़ खड़ा हो जाता है और उस में रुपए लगते हैं। बस अब क्या था इन्हों ने बड़ी बहन की गुल्लक खोल उस में से एक रुपया निकाला और बाहर किसी पेड़ के नीचे वह उसे बो आए। उसे कुछ दिनों पानी भी देते रहे। होनहार की बात कि कुछ ही दिनों बाद उन के मामा वहाँ से चल दिए, और उस जगह को उन्हों ने हमेशा के लिए छोड़ दिया। एक मरतबा इस रुपया बोने की घटना के पाँच-छः महीने बाद, इन के मामा जब रेल से कहीं जा रहे थे तब यह उन के साथ थे। जब वह स्टेशन आया जहाँ इन्हों ने रुपया बोया था तब अपने मामा से बोले—"मैं यहाँ उतरूँगा।"

मामा ने पूछा—"किसलिए ?"

बोले—"मैं ने यहाँ रुपया बो रखा है, अब वह उग आया होगा।"

मामा यह सुन कर हँस दिए। पर यह उन की हँसी पर उन्हें इस तरह देख रहे थे मानो कह रहे थे कि हमारे मामा इतना भी नहीं समझते।

एक दिन का ज़िक्र है किसी वजह से घर में एक बूँद भी दूध न था। बाल-जैनेन्द्र ने माँ से दूध माँगा। उन्हों ने कह दिया—"बेटा दूध तो नहीं है मिठाई ले लो मठरी ले लो, फल ले लो।" बाल-जैनेन्द्र किसी पर राजी नहीं हुए, वह दूध के लिए ही हठ करते रहे। और जब माँ ने फिर यही कहा कि बेटा दूध घर में नहीं है कहाँ से लाऊँ तब आप बोले कि दूध टट्टीघर में बखेरने के लिए है और मेरे पीने के लिए नहीं। घर का घर यह सुन कर हँस पड़ा क्योंकि बाल-जैनेन्द्र टट्टी-घर में बखेरे हुए फिनायल को ही दूध समझे हुए थे। इन्हें जितना ही यह समझाने की कोशिश की गई कि वह दूध नहीं है, उतना ही इन के गुस्से का पारा चढ़ता गया। आखिर में रूठ कर यह बाहर बरामदे में जा बैठे और फिर मुश्किल से दूध आने पर ही माने।

घर में इन से छोटा बच्चा कोई न था। इसलिए इन को सब ही का प्यार मिलता था। यह प्यार से अघाए हुए थे, इसलिए प्यार उंडेलना चाहते थे। अब

यह उँडेलें तो किस पर ? पड़ोस में भी इन से छोटा कोई बच्चा न था पर इन्हें तो कोई चाहिए ही था। एक दिन एक पिल्ला पकड़ लाए। बस फिर क्या था उस पर इतना प्यार उँडेला कि वह किं-किं कर के इन से अपना पीछा छुड़ाने की कोशिश करने लगा। पर यह कब छोड़ने लगे ! कभी उसको कुछ खिलाना कभी गिलास से पानी पिलाना कभी उसे उठा कर घुमाना कभी गोदी लेना और कभी उसके पंजों से तंग आ कर उसे छोड़ देने पर गिर जाने पर फिर उसे प्यार से उठाना और थपथपाना चारपाई पर सुलाना। घण्टे डेढ़ घण्टे में ही वह पिल्ला इनके प्यार से ऊब गया और इनसे पीछा छुड़ा कर भाग गया। यह उस के पीछे बहुत भागे पर वह हाथ न आया। घर के और लोगों को अगर भी उस पिल्ले से प्यार होता तो हो सकता था कि वह फिर पकड़ लिया जाता। पर वैसा न हुआ इसलिए इन का यह शौक एक दिन और वह भी एक घण्टे से ज्यादा न चला।)

(हम बहुत सोचने पर भी यह नहीं बता सकते कि बाल-जैनेन्द्र को और बच्चों की तरह भूख का ज्ञान क्यों नहीं था। भूख तो बच्चों के साथ-साथ जन्म लेती है। इन के साथ उस ने जन्म लिया था नहीं यह पता नहीं। कोई यह न समझे कि इन्हें भूख ही नहीं लगती थी और यह खाने के लिए कोई चीज ही नहीं मांगते थे या यह कि बहुत छुटपन में भूख से कभी रोए ही नहीं। नहीं, नहीं, यह छुटपन में भूख से ऐसे ही रोते थे जैसे कि और बच्चे। पर जब यह छः बरस के थे तब स्कूल से जब यह ११ बजे बहुत भूखे लौटते थे तब खाना नहीं मांगते थे। माँ से आते ही बस यह कहते थे कि माँ मेरे पेट में दर्द होता है। माँ इन्हें खूब यह जानती थी कि यह दर्द नहीं है, भूख की पुकार है और वह इन के दर्द का यही इलाज करती थी कि इन को खाना खिला देती थी और इन का दर्द ठीक हो जाता था। भूख से जो तकलीफ इन के पेट में होती थी उस तकलीफ का नाता यह भूख से जोड़ना पसन्द नहीं करते थे। जस का त्यों वह हाल अपनी माँ को बता देते थे। दूसरे शब्दों में भूख का नाम इन्होंने दर्द रख छोड़ा था और दर्द का दूसरा नाम वेदना है। और दार्शनिकों की बोली में भूख प्रतिकूल वेदना के सिवाय और है ही क्या ? यों अगर पढ़ने वाले चाहें तो बाल-जैनेन्द्र को बाल दार्शनिक भी कह सकते हैं।

घराने के रिवाज के मुताबिक इन का विद्यारम्भ संस्कार, 'आ' 'ई' से न हो कर 'अलिफ' 'बे' से हुआ और होनहार की बात कि सात बरस की उम्र में ही यह एक ऐसे गुरुकुल में दाखिल हो गए जहां क़ ख़ ग़ फ़ नागरी अक्षरों में शामिल समझे जाते थे। इन का शीन-काफ ऐसा ही दुरुस्त है जैसा कि फ़ारसी-दां का। इन के नाना के घराने का भी शीन-काफ दुरुस्त था, क्यों कि उस पर

में औरतों को छोड़ कर सभी फ़ारसी पढ़े थे। और अब बीस-पच्चीस बरस से दिल्ली में रहने की वजह से उन बोल-चाल को कोई नुकसान नहीं पहुंचा है और यह उर्दू साहित्य में इसी वजह से काफ़ी रस ले सके हैं।

कहीं ऊपर यह कहा गया है कि यह १५ वर्ष तक अपने मामा को अपना पिता ही समझते थे। इस की एक वजह तो यह थी कि जब यह चार बरस के थे तब इन के घर में इनके ममेरे भाई का जन्म हुआ। वह जब बोलने के काबिल हुआ तब इन की देखादेखी अपने बाप को मामा कह कर पुकारने लगा। इस बारे में घर में से किसी ने ध्यान नहीं दिया और कोई रोक-थाम भी न की गई। अब इन के लिए कोई मौका ही न रह गया कि यह मामा और बाप में कोई भेद कर सकें। कभी-कभी अपने ममेरे भाई को अपनी मां का दूध पीते देख कर तो इन्हें यह शक ही न रह गया कि इन का ममेरा भाई इन का सगा भाई नहीं है। दूसरी वजह यह हुई कि सात बरस की उम्र में बाल-जैनेन्द्र जब गुरुकुल में दाखिल हुए तब चार बरस का ममेरा भाई भी इन के साथ था। यह दूसरी बात है कि दोनों एक क्लास में नहीं थे। बस एक दिन १५ बरस की उम्र में जब जैनेन्द्र ने गुरुकुल का प्रवेश-रजिस्टर देखा और उस में अपने बाप के नाम की जगह प्यारे लाल लिखा पाया और संरक्षक की जगह अपने मामा का नाम, तब पता लगा कि मामा मामा थे बाप नहीं।

कहीं ऊपर हम यह भी कह आए हैं कि बाल-जैनेन्द्र को अपना प्यार उंडेलने के लिए घर में कोई न दीखता था। इसलिए सच-सच में जब इन के ममेरे भाई का जन्म हुआ तब इनकी खुशी का ठिकाना नहीं था। अगर इन का बस चलता तो उसी वक्त उसे अपने पास ले आते और क्या अचरज कि उसे दूध पिलाने में लग जाते क्योंकि गुरुकुल में यह अक्सर दूर से अपने ममेरे भाई का ताका करते थे और जब वह इन की तरफ़ देखता था तब दोनों मुस्करा देते थे और फिर यह मुस्कराहट हंसी में तब्दील हो जाती थी।

होनहार की बात कि गुरुकुल में भी इन से छोटा सिर्फ इन का ममेरा भाई ही था बाकी सब बड़े थे। गुरुकुल की स्थापना सन् ११ में हुई थी और उस के शुरू के पांच ब्रह्मचारियों में से यह भी एक थे।

जैनेन्द्र का गुरुकुल-जीवन

'जैनेन्द्र' गुरुकुल का दिया हुआ नाम है। सन् ११ की बैसाख सुदी तीज से पहले जैनेन्द्र का नाम आनन्दी लाल था।

गुरुकुल में सन् '११ के खतम होते होते ४० ब्रह्मचारी हो गए थे। उन ४० में

सिर्फ एक ही विद्यार्थी था जो इतना ही कुशाग्र-बुद्धि था जितना जैनेन्द्र और उस का नाम था रामेन्द्र। गुरुकुल के अधिष्ठाता सीक-सीक चलने वाले आदमी नहीं थे। वे मौके-मौके पर वही करते थे जो उन को ठीक सूझता था। गुरुकुल का आम नियम था सुबह चार बजे उठना और रात को नौ बजे सो जाना। पर जैनेन्द्र और रामेन्द्र इन दोनों ही के लिए ये काम मुश्किल ही नहीं असम्भव थे। इन को नौ बजे तक जगाना इतना ही बुरा काम था जितना किसी को रस्सी बांध कर खड़ा रखना और चार बजे उठाना उतना ही मुश्किल काम था जितना बासी घोड़े को खड़े रखने की कोशिश करना। देर से उठने और जल्दी सो जाने के ऐबों (अगर ये ऐब हैं) के साथ-साथ इन दोनों में पढ़ने-लिखने के अनेक गुण थे इसलिए ये दोनों चार बजे उठने और नौ बजे सोने के अपवाद बनाए गए। और इस अपवाद की वजह से इन के साथी ब्रह्मचारी इन से कोई डाह नहीं करते थे। इन का आदर करते थे और इन को ठेकेदार के नाम से पुकारते थे (ठेकेदार यों कि ये अपना पाठ शाम को जब सुना देते तभी से ये सोने के लिए आजाद थे) उठने के लिए यों आजाद थे कि गुरुकुल की खास क्रियाओं में ये ठीक वक्त पर शामिल हो जाते थे) गुरुकुल की पढ़ाई लिखाई में जैनेन्द्रकुमार को सिर्फ होशियार ही नहीं कहा जा सकता काफी से ज्यादा होशियार कहना पड़ेगा क्योंकि उम्र के लिहाज से तीसरे दर्जे में सब से अव्वल आने पर भी सिर्फ इस वास्ते यह चौथी कक्षा में नहीं चढ़ाए गए थे कि उस क्लास की पढ़ाई का बोझ उस उम्र के बालक के लिए, गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता की नजर में काफी से ज्यादा था। हमें याद है कि यह सुन कर जैनेन्द्र को काफी तकलीफ हुई थी पर मर्जी के माफिक घूमने फिरने के आनन्द में वह तकलीफ जल्दी ही भुलाई जा सकी थी।

एक बार मुख्य अधिष्ठाता का एक हल्का-सा चपत खा कर वह बुरी तरह बिगड़े थे और वह इस वजह से कि जिस बात के लिए इन्हें सजा मिली थी उस में इन का कोई कसूर नहीं था। इन्हों ने अपनी सफाई दे कर यह अच्छी तरह साबित कर दिया कि इन को जो चपत लगा है वह एक बेकसूर को लगा है। मुख्य अधिष्ठाता एक समझदार आदमी थे उन्हों ने इस से माफी मांगी जिस के जवाब में यह बोले "आप के माफी मांगने से जो चपत मेरे लग गया है वह बेलगा हुआ तो नहीं हो सकता ?

इस पर अधिष्ठाता जी बोले—"तो फिर भाई चपत की जगह चपत मार लो।"

इस के जवाब में इन्हों ने कहा कि ऐसा करना तो और भी बुरा होगा और

ऐसा करने से भी मुझ को लगा हुआ चपत बेलगा हुआ कैसे हो सकता है। आखिर फैसला इस बात पर हुआ कि अधिष्ठाता जी आइन्दा इस बात का बहुत ख्याल रखेंगे कि बेकसूर किसी को छोटी से छोटी सजा भी न दी जाए। जब का यह जिक्र है उस वक्त जैनेन्द्रकुमार का नवां बरस चल रहा था।

यह हम कह ही चुके हैं कि जैनेन्द्रकुमार पढ़ाई लिखाई में सब से आगे थे। छः महीने पढ़ने-लिखने से छुट्टी पाकर और अपना समय खेल-कूद में बिता कर भी यह किसी से पीछे नहीं रहे। यह सब तो था पर बोलने और लिखने में यह अपनी कक्षा में आखिरी सिरे पर थे। यह ठीक है कि अपने दर्जे में सब से छोटे थे पर इस से क्या। क्लास में जब सब से अव्वल थे तब बोलने और लिखने में भी अव्वल होना चाहिए था। इन की कक्षा में यह नौ बरस के थे और बाकी सब बारह और तेरह के बीच के थे। थोड़ा-थोड़ा तो सभी बोल लेते थे पर उन में से तीन चार तो ऐसे थे जो अचानक दिए हुए विषय पर पन्द्रह-बीस मिनट तक बोल सकते थे। इन में से एक ब्रह्मचारी ने तो एक मशहूर उपदेशक के व्याख्यान का मंचन पांच मिनट की तैयारी के बल पर सभा के मंच पर किया था। पर इन सब बातों का कभी कोई असर जैनेन्द्रकुमार पर नहीं हुआ। यह गुरुकुल की सभा में कभी एक मिनट बोल कर नहीं दिए और न कभी गुरुकुल के हाथ लिखे मैगजीन में अपने नाम से एक लाइन दी। अध्यापकों और लोगों ने कभी-कभी मजबूर भी किया पर मुख्य अधिष्ठाता ने इन पर कभी कोई जोर नहीं डाला।

और ब्रह्मचारियों के लिहाज से इन की खुराक काफी कम थी। इतनी कम थी कि चिन्ता का विषय बन गई थी। पर गुरुकुल के डाक्टर ने यह समझदारी ही की कि इन को बीमार नहीं समझा। उस की एक वजह यह भी थी कि इस कमखुराकी में भी इन का एक साथी था और वह इन से भी आगे था। वह तो दिन भर में पतली-पतली चार रोटियों से ज्यादा नहीं खाता था दूध भी बहुत ही कम पीता था। पर उस की कमखुराकी की वजह यह थी कि वह तीन-तीन चार चार रोज टट्टी नहीं जाता था। पर जैनेन्द्र के साथ तो यह बात नहीं थी। यह ठीक है कि गुरुकुल का खाना काफी भारी होता था, पर वह तो सभी के लिए था। जैनेन्द्र की उम्र के और बाद में आए छोटे ब्रह्मचारी भी जैनेन्द्र से ज्यादा और दुगना खा सकते थे। कम खाने की बात को सिर्फ इसलिए चिन्ता की बात नहीं समझा गया कि खेल-कूद में जैनेन्द्र पूरा हिस्सा लेते थे और सब में अव्वल नहीं थे तो सब से पीछे भी नहीं थे।

गुरुकुल में शतरंज खेलना मना न था। मना ताश था। एक तरीके से खेलाया जाता था और उसे किसी हद तक जरूरी समझा जाता था। हां उस के लिए

सिर्फ एक ही विद्यार्थी था, जो इतना ही कुशाग्र-बुद्धि था जितना जैनेन्द्र और उस का नाम था रामेन्द्र। गुरुकुल के अधिष्ठाता लीक-लीक चलने वाले आदमी नहीं थे। वे मौके-मौके पर वही करते थे जो उन को ठीक सूझता था। गुरुकुल का आम नियम था सुबह चार बजे उठना और रात को नौ बजे सो जाना। पर जैनेन्द्र और रामेन्द्र इन दोनों ही के लिए ये काम मुश्किल ही नहीं असम्भव थे। इन को नौ बजे तक जगाना इतना ही बुरा काम था जितना किसी को रस्सी बांध कर खड़ा रखना और चार बजे उठाना उतना ही मुश्किल काम था जितना खाली बोरे को खड़ा रखने की कोशिश करना। देर से उठने और जल्दी सो जाने के ऐबों (अगर ये ऐब हैं) के साथ-साथ इन दोनों में पढ़ने लिखने के अनेक गुण थे इसलिए ये दोनों चार बजे उठने और नौ बजे सोने के अपवाद बनाए गए। और इस अपवाद की वजह से इन के साथी ब्रह्मचारी इन से कोई डाह नहीं करते थे। इन का आदर करते थे और इन को ठेकेदार के नाम से पुकारते थे (ठेकेदार यों कि ये अपना पाठ शाम को जब सुना देते तभी से ये सोने के लिए आजाद थे) उठने के लिए यों आज़ाद थे कि गुरुकुल की खास क्रियाओं में ये ठीक वक्त पर शामिल हो जाते थे)। गुरुकुल की पढ़ाई-लिखाई में जैनेन्द्रकुमार को सिर्फ होशियार ही नहीं कहा जा सकता काफी से ज्यादा होशियार कहना पड़ेगा क्योंकि उम्र के लिहाज से तीसरे दर्जे में सब से अव्वल आने पर भी सिर्फ इस वास्ते यह चौथी कक्षा में नहीं चढ़ाए गए थे कि उस क्लास की पढ़ाई का बोझ उस उम्र के बालक के लिए, गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता की नजर में काफी से ज्यादा था। हमें याद है कि यह सुन कर जैनेन्द्र को काफी तकलीफ हुई थी पर मर्जी के माफिक घूमने-फिरने के आनन्द में वह तकलीफ जल्दी ही भुलाई जा सकी थी।

एक बार मुख्य अधिष्ठाता का एक हल्का-सा थप्पड़ खा कर यह बुरी तरह बिगड़े थे और वह इस वजह से कि जिस बात के लिए इन्हें सजा मिली थी उस में इन का कोई कसूर नहीं था। इन्हों ने अपनी सफाई दे कर यह अच्छी तरह साबित कर दिया कि इन को जो थप्पड़ लगा है वह एक बेकसूर को लगा है। मुख्य अधिष्ठाता एक समझदार आदमी थे उन्हों ने इन से माफी मांगी जिस के जवाब में यह बोले "आप के माफी मांगने से जो थप्पड़ मेरे लग गया है वह बेलगा हुआ तो नहीं हो सकता ?

इस पर अधिष्ठाता जी बोले—"तो फिर भाई थप्पड़ की जगह थप्पड़ मार लो।

इस के जवाब में इन्हों ने कहा कि ऐसा करना तो और भी बुरा होगा और

ऐसा करने से भी मुख को सजा हुआ अपना बेगाना हुआ कैसे हो सकता है। आखिर फैसला इस बात पर हुआ कि अधिष्ठाता जी आइन्दा इस बात का बहुत ख्याल रखेंगे कि बेकसूर किसी को छोटी से छोटी सजा भी न दी जाए। जब का यह जिक्र है उस वक्त जैनेन्द्रकुमार का नवां बरस चल रहा था।

यह हम कह ही चुके हैं कि जैनेन्द्रकुमार पढ़ाई लिखाई में सब से आगे थे। छः महीने पढ़ने-लिखने से छुट्टी पाकर और अपना समय खेल-कूद में बिता कर भी वह किसी से पीछे नहीं रहे। यूं सब तो था पर बोलने और लिखने में वह अपनी कक्षा में आखिरी सिरे पर थे। यह ठीक है कि अपने दर्जे में सब से छोटे थे पर इस से क्या। क्लास में जब सब से अव्वल थे तब बोलने और लिखने में भी अव्वल होना चाहिए था। इन की कक्षा में यह नौ बरस के थे और बाकी सब बारह और तेरह के बीच के थे। थोड़ा-थोड़ा तो सभी बोल लेते थे पर उन में से तीन चार तो ऐसे थे जो अचानक दिए हुए विषय पर पन्द्रह-बीस मिनट तक बोल सकते थे। उन में से एक ब्रह्मचारी ने तो एक मशहूर उपदेशक के व्याख्यान का खंडन पांच मिनट की तैयारी के बल पर सभा के मंच पर किया था। पर इन सब बातों का कभी कोई असर जैनेन्द्रकुमार पर नहीं हुआ। वह गुरुकुल की सभा में कभी एक मिनट बोल कर नहीं दिए और न कभी गुरुकुल के हाथ लिखे मैगज़ीन में अपने नाम से एक लाइन दी। अध्यापकों और लोगों ने कभी-कभी मजबूर भी किया पर मुख्य अधिष्ठाता ने इन पर कभी कोई जोर नहीं डाला।

और ब्रह्मचारियों के लिहाज से इन की खुराक काफी कम थी। इतनी कम थी कि चिन्ता का विषय बन गई थी। पर गुरुकुल के डाक्टर ने यह समझदारी ही की कि इन को बीमार नहीं समझा। उस की एक वजह यह भी थी कि इस कमखुराकी में भी इन का एक साथी था और वह इन से भी कहीं आगे था। वह तो दिन भर में पतली-पतली चार रोटियों से ज्यादा नहीं खाता था दूध भी थोड़ा ही कम पीता था। पर उस की कमखुराकी की वजह यह थी कि वह तीन-तीन चार चार रोज टट्टी नहीं जाता था। पर जैनेन्द्र के साथ तो यह बात नहीं थी। यह ठीक है कि गुरुकुल का खाना काफी भारी होता था, पर वह तो सभी के लिए था। जैनेन्द्र की उम्र के और बाद में आए छोटे ब्रह्मचारी भी जैनेन्द्र से ज्यादा और दुगना खा सकते थे। इस कम खाने की बात को सिर्फ इसलिए चिन्ता की बात नहीं समझा गया कि खेल-कूद में जैनेन्द्र पूरा हिस्सा लेते थे और सब में अव्वल नहीं थे तो सब से पीछे भी नहीं थे।

गुरुकुल में शतरंज खेलना मना न था। मना कैसा एक तरीके से खेलाया जाता था और उसे किसी हद तक जरूरी समझा जाता था। हां, [illegible] के दिन

और वक्त नियत थे। शतरंज के खेल में जैनेन्द्र कई अध्यापकों से भी अच्छा खेल लेते थे।

किसी वजह से जैनेन्द्रकुमार को अपनी तालीम पूरी किए बिना गुरुकुल छोड़ना पड़ा और सन् १८ में इन्हों ने मास्टर बलवंत सिंह जी के पास बिजनौर में रह कर पंजाब मैट्रिक की तैयारी की। जिस साल गोली थी के चलने जाने की वजह से दिल्ली में गोली चली उसी साल इन्हों ने पंजाब मैट्रिक का इम्तहान दिया और इत्तफ़ाक़ से दिल्ली टाउन हाल पर जिस वक्त गोली चली थी उस वक्त चौदह बरस के जैनेन्द्रकुमार वहीं मौजूद थे और उस गोली कांड को यह ऐसे देखते रहे मानो इन के लिए वह एक मामूली खेल था।)

मैट्रिक करने के बाद यह बनारस यूनिवर्सिटी में दाखिल हो गए और सन् २० में जब असहयोग आन्दोलन ज़ोरों के साथ शुरू हुआ तब इन्हों ने अपने मामा को एक पत्र लिखा कि कालेज छोड़ कर आन्दोलन में हिस्सा लेना चाहते हैं। इस के जवाब में इन के मामा ने लिखा कि होना तो यह चाहिए था कि तुम मुझे खबर देते कि तुम ने कालेज छोड़ दिया है न कि यह कि तुम मुझ से कालेज छोड़ने की इजाजत चाह रहे हो। इस खत को पा कर इन्हों ने वही किया जो करने के लिए वह खत इन्हें भिझक रहा था। जैनेन्द्रकुमार का इस वक्त सोलहवां वर्ष चल रहा था।

जैनेन्द्रकुमार का इस से आगे का जीवन बालकपन की हद से परे चला जाता है इसलिए इस को हम यहीं ख़त्म करते हैं।

जैनेन्द्रकुमार : व्यक्तित्व की एक झाँकी

—डा० शान्ति प्रसाद वर्मा

जैनेन्द्रकुमार से मेरा प्रथम परिचय उन की एक कहानी 'फाँसी' के द्वारा हुआ जो सम्भवतः १९२९ में 'त्यागभूमि' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के साथ 'त्यागभूमि' के तत्कालीन साहित्य-सम्पादक श्री रामनाथ 'सुमन' की एक टिप्पणी भी थी। यदि वह टिप्पणी न भी होती तो भी उस कहानी में जो ताजगी मौलिकता, वर्णन-शैली की विलक्षणता और मानवीय भावनाओं की गहराई थी उस से कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। हिन्दी-साहित्य में वह एक क्रान्तिकारी देन थी। उस के बाद ही जैनेन्द्रकुमार की अनेक ऐसी कहानियाँ प्रकाशित हुईं जिन से हिन्दी का कथा-शिल्प आकृति और तत्त्व दोनों की दृष्टि से सहसा बदल गया।

परन्तु जैनेन्द्रकुमार ने जब कहानी लिखना शुरू किया था तब इस प्रकार की कोई पृष्ठभूमि उन के सामने नहीं थी। उन्हें इस प्रकार के साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली यह कहना कठिन है। केवल यही कहा जा सकता है कि वह एक अद्भुत प्रतिभा लेकर हिन्दी जगत में आए। बाद में उन का 'परख' नाम का उपन्यास पढ़ने को मिला। उस में भी स्नेह और आत्मीयता का एक ऐसा मधुर वातावरण था और कट्टो का चरित्र इतना मार्मिक बन पड़ा था कि उस का गहरा प्रभाव मन पर पड़ा। पर इस के पहले हिन्दी में शरत्-साहित्य के अतिरिक्त बंगला के अनेक अन्य उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे, और 'परख' को टेकनीक की दृष्टि से एक क्रान्तिकारी देन मानने में शायद कठिनाई हो। परन्तु उन वर्षों में जैनेन्द्र की जितनी भी कहानियाँ प्रकाशित हुईं उन सब में एक ऐसा मनोविज्ञान और भावों की एक ऐसी मार्मिकता थी कि यह मान लेने में किसी को कठिनाई नहीं हो सकती थी कि हिन्दी-साहित्य में एक बड़े प्रभावशाली व्यक्ति ने जन्म लिया था।

जैनेन्द्रकुमार से व्यक्तिगत परिचय १९३४ में दिल्ली में आयोजित हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हुआ। जैनेन्द्रकुमार

और वक्त नियत थे। शतरंज के खेल में जैनेन्द्र कई अध्यापकों से भी अच्छा खेल लेते थे।

किसी वजह से जैनेन्द्रकुमार को अपनी तालीम पूरी किए बिना गुरुकुल छोड़ना पड़ा और सन् १८ में इन्होंने मास्टर बसंत सिंह जी के पास बिजनौर में रह कर पंजाब मैट्रिक की तैयारी की। जिस साल गांधी जी के पकड़े जाने की वजह से दिल्ली में गोली चली उसी साल इन्होंने पंजाब मैट्रिक का इम्तहान दिया और इत्तफाक से दिल्ली टाउन हाल पर जिस वक्त गोली चली थी उस वक्त चौदह बरस के जैनेन्द्रकुमार वहीं मौजूद थे और उस गोली कांड को यह ऐसे देखते रहे मानो इन के लिए यह एक मामूली खेल था।)

मैट्रिक करने के बाद यह बनारस यूनिवर्सिटी में दाखिल हो गए और सन् '२० में जब असहयोग आन्दोलन जोरों के साथ शुरू हुआ तब इन्होंने अपने मामा को एक पत्र लिखा कि कालेज छोड़ कर आन्दोलन में हिस्सा लेना चाहते हैं। इस के जवाब में इन के मामा ने लिखा कि होना तो यह चाहिए था कि तुम मुझे खबर देते कि तुम ने कालेज छोड़ दिया है न कि यह कि तुम मुझ से कालेज छोड़ने की इजाजत चाह रहे हो। इस खत को पा कर इन्होंने वही किया जो करने के लिए यह खत इन्हें झिझक रहा था। जैनेन्द्रकुमार का इस वक्त सोलहवां वर्ष चल रहा था।

जैनेन्द्रकुमार का इस से आगे का जीवन बालकपन की हद से परे चला जाता है, इसलिए इस को हम यहीं खतम करते हैं।

जैनेन्द्रकुमार : व्यक्तित्व की एक झांकी

—डा० शान्ति प्रसाद वर्मा

जैनेन्द्रकुमार से मेरा प्रथम परिचय उन की एक कहानी 'फांसी' के द्वारा हुआ जो सम्भवतः १९२९ में 'त्यागभूमि' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के साथ 'त्यागभूमि' के तत्कालीन साहित्य-सम्पादक श्री रामनाथ 'सुमन' की एक टिप्पणी भी थी। यदि वह टिप्पणी न भी होती तो भी उस कहानी में जो ताजगी, मौलिकता, वर्णन-शैली की विलक्षणता और मानवीय भावनाओं की गहराई थी उस से कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। हिन्दी-साहित्य में वह एक क्रान्तिकारी देन थी। उस के बाद तो जैनेन्द्रकुमार की अनेक ऐसी कहानियां प्रकाशित हुईं जिन से हिन्दी का कथा-शिल्प आकृति और तत्व दोनों की दृष्टि से सर्वथा बदल गया।

परन्तु जैनेन्द्रकुमार ने जब कहानी लिखना शुरू किया था तब इस प्रकार की कोई पृष्ठभूमि उन के सामने नहीं थी। उन्हें इस प्रकार के साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहां से मिली यह कहना कठिन है। केवल यही कहा जा सकता है कि वह एक अद्भुत प्रतिभा लेकर हिन्दी जगत में आए। बाद में उन का 'परख', नाम का उपन्यास पढ़ने को मिला। उस में भी स्नेह और आत्मीयता का एक ऐसा मधुर वातावरण था और कट्टो का चरित्र इतना मार्मिक बन पड़ा था कि उस का गहरा प्रभाव मन पर पड़ा। पर इस के पहले हिन्दी में शरत्-साहित्य के अतिरिक्त बंगला के अनेक अन्य उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे और 'परख' को टेकनीक की दृष्टि से एक क्रान्तिकारी देन मानने में शायद कठिनाई हो। परन्तु उन वर्षों में जैनेन्द्र की जितनी भी कहानियां प्रकाशित हुईं उन सब में एक ऐसा अनोखापन और भावों की एक ऐसी मार्मिकता थी कि यह मान लेने में किसी को कठिनाई नहीं हो सकती थी कि हिन्दी-साहित्य में एक बड़े प्रभावशाली व्यक्ति ने जन्म लिया था।

जैनेन्द्रकुमार से व्यक्तिगत परिचय १९५४ में दिल्ली में आयोजित हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हुआ। जैनेन्द्रकुमार

साहित्य-परिषद् के मन्त्री थे। माखनलाल चतुर्वेदी अध्यक्ष। अगले दिन साहित्य परिषद् का अधिवेशन था। मैं ने जब कार्यक्रम के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी से पूछा तो उन्हों ने मुझे बैठा लिया और कहा—"आओ हम लोग बैठ कर एक रूपरेखा बना लें। यह देख कर मुझे आश्चर्य हुआ कि जैनेन्द्र जी ने अपने उत्तरदायित्व को इतने सहज भाव से लिया था—मानो उस का कोई बोझ मन पर न हो। अधिवेशन के अवसर पर जितने सृजनशील साहित्यकार दिल्ली में एकत्र हुए थे उन सब से मैं ने साहित्य-रचना के अपने अनुभवों पर प्रकाश डालने के लिए कहने का सुझाव दिया। तब हम लोगों ने तलाश करना शुरू किया कि सृजनशील साहित्य का निर्माण करने वाले ऐसे कितने लेखक वहाँ उपस्थित थे और बड़ी तलाश के बाद केवल प्रेमचन्द ऐसे व्यक्ति दिखाई दिए जिन से इस प्रकार की प्रार्थना की जा सकती थी। प्रेमचन्द जी के पास हम लोग पहुँचे—कॉनर्स कालेज के एक बड़े हाल में ४०-५० खाटों के बीच कहीं उन की भी एक खाट थी—और हम ने अपनी प्रार्थना उन के सामने रखी। प्रेमचन्द जी ने अपने सहज सरल स्वभाव और निश्छल एवं निष्कपट ढंग से कहा— "मैं तो सभा-सम्मेलनों में बोलता नहीं हूँ बोल भी नहीं सकता। मुझ से आप इस प्रकार की आशा न करें।" प्रयाग विश्वविद्यालय के अपने विद्यार्थी-जीवन में मैं हिन्दी के कई लेखकों से मिल चुका था। (कई साहित्य-गोष्ठियों में भी सम्मिलित हुआ था परन्तु प्रेमचन्द—जैसे प्रथम श्रेणी के साहित्यकार से मिलने का यह पहला अवसर था। प्रेमचन्द की गिनती तब भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में थी।) जैनेन्द्र का नाम हिन्दी में नया था। कुछ ने उन की कला की प्रशंसा की थी परन्तु अधिकतर उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से ही देखते थे। पिछले एक-दिन में जैनेन्द्र जी से मेरी निकटतम आत्मीयता हो गई थी—अधिकतर समय हम लोग साथ रहे थे। जैनेन्द्र प्रेमचन्द जी को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। परन्तु मुझे यह देख कर कुछ आश्चर्य हुआ कि प्रेमचन्द जी से बात करते समय किसी प्रकार की हीनता का भाव उन में नहीं दिखाई देता था। सहज भाव से उन्हों ने कहा— "आप जरूर बोलिए, बोलने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मैं भी बोल लेता हूँ। अभी उस दिन अमुक कालेज में मुझे निमन्त्रित किया गया था। वहाँ पर मैं बोला और काफी अच्छा बोला।")

अपने दिल्ली-प्रवास के तीन-चार दिनों में जैनेन्द्र की अनौपचारिकता उन का आत्मविश्वास व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने की उन की अद्भुत क्षमता इन सब बातों का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। दिल्ली के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में मुझे अन्य लेखकों, उपन्यासकारों एवं कवियों से मिलने का

अवसर मिला। परन्तु उस के बाद जब मैं ने अपने कुछ संस्मरण लिखे तो कुछ के साथ उन में यह भी लिखा— 'हिन्दी में मुझे चरित्र की उदात्तता और मस्तिष्क की प्रखरता इन दो बातों की कमी नजर आती है।" परन्तु दिल्ली से जब मैं लौटा तब मन में यह दृढ़ धारणा लेकर लौटा कि जैनेन्द्रकुमार इस प्रवृत्ति के अपवाद हैं। चरित्र और बुद्धि—दोनों ही क्षेत्रों में उन की प्रखरता की एक गहरी छाप मुझ पर पड़ चुकी थी।

धीरे-धीरे जैनेन्द्रकुमार हिन्दी में चर्चा के अच्छे खासे विषय बन गए। कुछ लोगों ने कहा कि उन में अहंकार का तत्त्व बहुत प्रबल है। वह अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। कुछ ने उन के भाषणों को शब्द-जाल से भरा हुआ बताया और कुछ ने कार्टून खींचे जिन में दिखाया गया कि जैनेन्द्रकुमार आकाश (अथवा कमरे की छत) की ओर देखते हुए एक बड़े तत्त्वदर्शी की मुद्रा में भाषण कर रहे हैं—मानो यह उन का एक 'पोज़' हो।

इन्हीं वर्षों में कभी दिल्ली कभी इन्दौर, कभी किसी अन्य स्थान पर, जैनेन्द्रकुमार से मेरा मिलना होता रहा और उन से स्नेह-सम्बन्ध प्रगाढ़ बनते गए। मुझे अब यह तो याद नहीं कि उन दिनों जब जैनेन्द्रकुमार किसी सभा में बोलते थे तब उन के चेहरे का झुकाव कितना आकाश की ओर होता था और कितना सामने की ओर। परन्तु अहंकार की भावना मुझे उन में कभी नहीं दिखाई दी। हीनता की भावना भी उन में नहीं थी जिस की अपेक्षा शायद साहित्य के क्षेत्र में आने वाले नए व्यक्ति से की जा सकती। पर जिस शान से जैनेन्द्रकुमार हिन्दी-साहित्य में आए थे—एक धूमकेतु के समान—उसे देखते हुए उन में हीनता की भावना की अपेक्षा करना भी असंगत होता। इन के साथ ही पुराने और बड़े साहित्यकारों के प्रति निरादर की भावना भी उन में कभी नहीं रही—न शब्दों में न व्यवहार में। माखनलाल प्रेमचन्द जवाहरलाल नेहरू सभी से बातचीत करते हुए मैं ने उन्हें सदा सरल और स्वाभाविक ही पाया। १९३६ में नागपुर के भारतीय साहित्य-परिषद् में हिन्दी के सम्बन्ध में जिस दृढ़ता से जवाहरलाल जी के सामने उन्होंने अपने विचार रखे उसे देख कर तो मुझे थोड़ा आश्चर्य भी हुआ (इस कारण और भी कि अनेक महारथियों को जवाहरलाल जी के सामने अपना साहस और मानसिक संतुलन खोते हुए भी मैं ने देखा है)। वास्तव में मैं यह कहना चाहता हूं कि जैनेन्द्रकुमार के व्यक्तित्व में किसी भी प्रकार की कुटिलता पेचीदगी अथवा आडम्बर नहीं है। वह भीतर से भी उतने ही सरल और स्वाभाविक हैं, जितना बाहर से। मैं नहीं कह सकता कि उन के व्यक्तित्व के इन गुणों की उन की भाषा में और उन के

चिन्तन में कहां तक अभिव्यक्ति हुई है क्योंकि उन की भाषा में कई बार कटिलता दिखाई देती है और उन के चिन्तन में गहराई होते हुए भी वह कई बार जटिल हो जाता है।

दिल्ली-अधिवेशन के एक वर्ष बाद ही १९३५ में इन्दौर में गांधी जी के सभापतित्व में सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस बार मैं साहित्य-मन्त्री था। प्रेमचन्द तो आ नहीं सके पर अनेक अच्छे साहित्यकारों को इकट्ठा करने में हम लोग सफल हुए थे। इन्दौर-अधिवेशन में जैनेन्द्र के उदीयमान व्यक्तित्व का एक नया रूप सामने आया। इन्दौर में अनेक प्रदेशों के लोग रहते हैं। हिन्दी और मराठी भाषा-भाषियों की संख्या तो लगभग बराबर ही है, परन्तु कई हजार गुजराती (जिन में पारसी भी सम्मिलित हैं) बंगाली तथा दक्षिण भारतीय भी रहते हैं। मैं उन दिनों बड़ी तीव्रता के साथ यह अनुभव कर रहा था कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों के साथ निकट का सम्पर्क स्थापित किया जाना आवश्यक है। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी उन दिनों इन्दौर आए हुए थे अपने किसी मुकदमे के सम्बन्ध में। हिन्दी के साहित्य-जगत में तब तक उन का विशेष परिचय नहीं था। गुजराती के तो वह लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे ही। प्रान्तीय साहित्यों को निकट लाने के सम्बन्ध में मैं ने उन से बातचीत की। उन्हों ने कहा कि कुछ महीने पहले बम्बई में प्रेमचन्द से उन की इस प्रकार की बातचीत हुई थी। तब हम लोगों ने 'भारतीय साहित्य-परिषद्' के नाम से एक ऐसी संस्था स्थापित करने की चर्चा की जिस के माध्यम से इस प्रकार का साहित्यिक सहयोग स्थापित किया जा सकता था। गांधी जी के निवास-स्थान पर महादेव देसाई तथा काका कालेलकर से जब इस सम्बन्ध में बातचीत हुई तब जैनेन्द्र भी उस में सम्मिलित थे। उस के बाद गांधी जी से हम ने चर्चा की। उन का आशीर्वाद मिला और 'भारतीय साहित्य-परिषद' की नींव पड़ी। १९३६ में नागपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के साथ ही 'भारतीय साहित्य-परिषद्' का पहला अधिवेशन गांधी जी के सभापतित्व में किया गया। उस में प्रेमचन्द भी उपस्थित थे। जैनेन्द्रकुमार तो थे ही। अन्य भाषाओं विशेषकर उर्दू के कुछ लोग—मौलवी अब्दुल हक़ मुजीब आदि—भी उस में शामिल थे। प्रेमचन्द पहले ही अपनी पत्रिका 'हंस' 'भारतीय साहित्य-परिषद्' को सौंप चुके थे। नागपुर अधिवेशन के कुछ महीनों के बाद ही वह हमें छोड़ कर चले गए, पर दो वर्षों में 'हंस' के माध्यम से भारतीय भाषाओं के बीच एक मुक्त आदान प्रदान का भी महत्वपूर्ण प्रयत्न किया गया जैनेन्द्रकुमार का उस में सम्पूर्ण और क्रियाशील सहयोग था।

हिन्दी के लेखक के लिए इस प्रकार के अन्तरभारतीय आयोजन में इतना अधिक सहयोग देना तब एक नई बात थी। इस के प्रमाण में मैं एक व्यक्तिगत अनुभव देना चाहूंगा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन में रामचन्द्र शुक्ल साहित्य-परिषद् के मनोनीत सभापति थे। वह समय पर इन्दौर पहुंच नहीं सके। इस कारण हमें साहित्य-परिषद् का अधिवेशन अगले दिन प्रातःकाल के लिए स्थगित करना पड़ा, जब सवेरे भी उन के पहुंचने में देर हुई तब मैं ने सोचा कि प्रान्तीय भाषाओं में जिस सहयोग की चर्चा हम लोगों ने पिछले दिन आरम्भ की थी उसे दृष्टि में रखते हुए यह शुभ प्रतीक होगा कि श्री मुंशी को साहित्य-परिषद् का सभापति बनाया जाय। माखन टंडन जी को जब यह पता लगा तब वह बड़े नाराज हुए। उन्हों ने मुझ से कहा—"मंच पर हिन्दी के बड़े साहित्यकारों के होते हुए भी आप हिन्दी से बाहर के किसी व्यक्ति को क्यों सभापति बनाना चाहते हैं ?" हिन्दी में जब इस प्रकार का वातावरण था तब भी जैनेन्द्र कुमार हिन्दी-साहित्य की संकीर्ण परिधि को लांघ कर अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में पर्याप्त दिलचस्पी ले रहे थे।

१९३४ और '३९ के बीच अनेक ऐसे अवसर आए जब जैनेन्द्रकुमार के साथ घण्टों साहित्य और जीवन सम्बन्धी अनेक व्यापक और गहनतम विषयों पर बातचीत करने का अवसर मिला। (१९३९ के आरम्भ में दिल्ली से उन्हों ने एक हिन्दी-परिषद् का आयोजन किया जिस में हिन्दी में सम्भवतः पहली बार साहित्य के सम्बन्ध में गहराई के साथ विवेचना हुई।) जहां तक मुझे याद है, माखन लाल चतुर्वेदी, 'अज्ञेय' आदि अनेक प्रमुख साहित्यकारों ने उस में भाग लिया था। उसके कुछ महीनों के बाद इन्दौर में मैं ने उन्हें निमन्त्रित किया। मुझे आज भी याद है कि अपने कुछ मित्रों के साथ जिन में इन्दौर के कुछ धनाढ्य सेठ भी थे, जब मैं उन्हें लेने स्टेशन पहुंचा तब एक चादर और कमीज पहने वह तीसरे दर्जे के एक डिब्बे में से बाहर निकले थे। तब तक जैनेन्द्र इतने अधिक प्रसिद्ध हो गए थे कि इन्दौर में अनेक सभाओं में उन्हें बोलना पड़ा और मुझे यह देख कर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी-साहित्य की सीमाओं से वह बिल्कुल बंधे हुए नहीं थे। साहित्य और जीवन के अनेक विषयों पर बड़ी मौलिकता और प्रखरता के साथ उन्हों ने अपने विचारों को व्यक्त किया। इस बीच में जैन-समाज में उन के लिए एक बड़ा आदर का स्थान बनने लगा था। १९४१ में मैं इन्दौर से बाहर चला आया यद्यपि वहां से मेरा सम्पर्क बराबर बना रहा है। एक-आध वर्ष के बाद जब मैं इन्दौर गया तब मैं ने सुना कि जैनेन्द्र उस दिन वहां थे और किसी बड़े भारी जैन-सम्मेलन की अध्यक्षता कर रहे थे।

मैं वहां गया और मैं ने उन का भाषण सुना। मुझे ऐसा लगा कि वह साहित्य के दायरे को चीर कर एक धार्मिक नेता का स्थान लेने जा रहे हैं। तत्त्व-दर्शन की एक व्यापक पृष्ठभूमि पर जैन धर्म के कुछ तत्त्वों की मीमांसा उन्हों ने की और मैं ने देखा कि समस्त जैन-समाज ने बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें सुना। पिछले कुछ वर्षों से मेरा उन से मिलना नहीं हुआ था। मुझे ऐसा लगा कि जैसे जैनेन्द्र का व्यक्तित्व अचानक इतना ऊंचा उठ गया है कि अब हम लोग बराबरी के स्तर पर शायद न मिल सकें। पर सभा के समाप्त होने पर जैसे ही जैनेन्द्र मुझ से मिले मैं ने देखा कि वही आत्मीयता सरलता और स्वाभाविकता उन में थी जो उन के व्यक्तित्व में मैं कई वर्षों से देखता आया था। मैं नहीं जानता कि बाद के वर्षों में जैन-समाज में उन का क्या स्थान रहा, परन्तु यह स्पष्ट है कि धार्मिक भावनाओं का आधार ले कर उन्हों ने कभी नेता बनने की कोशिश नहीं की।

जैनेन्द्र की साहित्यिक रचनाओं को मैं ने सदा ही उन के व्यक्तित्व के माध्यम से ही देखा है। इस कारण उन से मेरा उतना गहरा परिचय नहीं जितना जैनेन्द्र के व्यक्तित्व से। 'परख' मैं ने पहले ही पढ़ ली थी। 'त्यागपत्र' उस के बाद निकला। खंडवा के 'कर्मवीर' में मैं ने उस पर एक आलोचनात्मक लेख भी लिखा। उस के बाद 'कल्याणी' और 'सुनीता' पढ़ी। उन की कहानियों में मुझे सदा से अधिक रुचि रही है। इन उपन्यासों के बाद वर्षों तक जैनेन्द्र कुमार ने बहुत कम लिखा। कम-से-कम प्रकाशित बहुत कम किया। बीच-बीच में उन से मिलना होता रहा। कभी उन्हों ने यह नहीं कहा कि उन्हों ने लिखना छोड़ दिया है। कुछ उपन्यासों के कथा-सूत्रों की वह चर्चा भी करते रहे। एक बार उन्हों ने 'मान-माम' के नाम से कोई उपन्यास लिखना प्रारम्भ भी किया था जो शायद बाद में 'विवर्त' के रूप में प्रकाशित हुआ। स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद साहित्य के जगत में जैसे भी शिथिलता आ गई थी। कुछ साहित्यकार राजनीति में जाने के लिए उत्सुक हुए। कुछ ने उस में प्रवेश भी किया। अधिकांश को निराशा ही मिली। उन में कुछ की भावना का विकास हुआ। पर जैनेन्द्र जी के सम्बन्ध में कभी यह नहीं सुना कि वह इस प्रकार की जोड़-तोड़ में लगे हुए हों। जहां तक मैं जानता हूं राजनीति में आने का उन्हों ने कभी प्रयत्न नहीं किया।

कई वर्षों के उन के मौन के बाद 'सुखदा', 'विवर्त' 'व्यतीत' और बाद में 'जयवर्धन' काफी तेजी के साथ एक के बाद एक प्रकाशित होते गए। इस बीच उन का प्रकाशन-संस्थान भी बन चुका था। 'जयवर्धन' एक राजनीतिक उपन्यास

है जिस में विचार-धाराओं का विश्लेषण किया गया है। इस बीच अनेक अखिल भारतीय और अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक संस्थाओं और समारोहों में उन्हें बड़े आदर का स्थान मिलने लगा था। आज उन की गिनती हिन्दी के लेखकों तथा भारतीय भाषाओं के अप्रतिम नेता के रूप में की जाती है। परन्तु आज भी मैं जब भी जैनेन्द्रकुमार से मिलता हूं तो उन में वही अहंकारहीनता और आत्मीयता मिलती है जो तीस वर्ष पहले उन के साथ के प्रथम सम्पर्क में मिली थी। पिछले पैंतीस वर्षों में हिन्दी के अनेक लेखकों से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। उन में से अनेक को मैं ने साहित्य-सृजन की दृष्टि से क्षीण होते हुए देखा है। कुछ में बौद्धिक जड़ता उभर आई है और कुछ में चारित्रिक पतन के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। परन्तु जैनेन्द्रकुमार में मुझे आज भी वैसी ही मौलिकता और सर्जन क्षमता दिखाई देती है जैसी आज से पैंतीस वर्ष पहले थी—साथ ही साथ शैली और विचारों में परिपक्वता बराबर बढ़ती गई है। कुछ क्षणों में अपने विचारों के सम्बन्ध में वह बदनाम बहुत हुए। 'विवर्त' नाम की उनकी एक कहानी निकली थी, जिस पर काफ़ी चर्चा रही। अनैतिकतापूर्ण साहित्य के निर्माण का दोष उन पर लगाया जाता है। बातचीत और भाषणों में वह कई बार बड़ी क्रान्तिकारी बातें कह जाते हैं परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि उन का व्यक्तिगत चरित्र अत्यन्त प्रखर और ऊंचा है। उन के साहित्य में यदि ऐसे विचार आ भी जाते हैं जो नैतिकता की दृष्टि से अवांछनीय माने जाते हों—मैं उन के सम्बन्ध में बहुत कम परिचित हूं—तब भी इस प्रकार के विचारों का कोई प्रभाव उन के व्यक्तिगत चरित्र पर मुझे कभी दिखाई नहीं दिया।

कई बार यह विवाद भी सुनाई देता है कि जैनेन्द्रकुमार साहित्यकार अधिक हैं, अथवा दार्शनिक अधिक। इस प्रकार का विवाद हिन्दी साहित्य के बाहर शायद ही सुन पड़ता हो। जिस साहित्यकार का अपना दर्शन नहीं है वह लेखक क्या होगा? कला के पीछे किस प्रकार का दर्शन किस प्रकार का दृष्टिकोण किस प्रकार का आग्रह है—ये सभी अत्यन्त आवश्यक प्रश्न हैं। यह अलग बात है कि किसी एक लेखक में दर्शन-शैली उस की लेखन-शैली में छिप जाती हो और किसी दूसरे में उस का दार्शनिक पक्ष के रचना-कौशल को पीछे छोड़ कर तेज़ी से आगे बढ़ जाता हो। हो सकता है कि जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में यह दूसरी बात सच हो। यदि सच हो तो मैं नहीं कह सकता कि इस का कारण क्या हो सकता है। क्या यह कारण है कि उन का दर्शन गहरा होते हुए भी कुछ बिखरा हुआ-सा अव्यवस्थित-सा है? यह शायद इस कारण हो कि उन का चिन्तन दर्शन की किसी विशेष शाखा

से सम्बन्ध नहीं रखता। यह स्पष्ट है कि थोड़ी देर की बातचीत में भी वह कुछ ऐसे गहरे विचार सामने रख देते हैं जिन के सम्बन्ध में यह जरूरी हो जाता है कि घंटों तक उस पर मनन किया जाए। उन में सदैव एक नयापन और अनोखापन होता है। मुझे आशा है कि जैनेन्द्रकुमार केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही इस प्रकार की बातें शायद नहीं करते हैं। जहां तक मैं जानता हूं आज न तो साहित्य के क्षेत्र में और न दर्शन के क्षेत्र में ही जैनेन्द्र के पीछे अनुयायियों का कोई गुट है। वह जहां भी हों उस समय की क्रियाओं में तल्लीन पर उनसे अलग और अकेले-से दिखाई देते हैं। शायद इसी कारण वह जब चाहें इन दोनों ही परिधियों से बाहर निकल सकते हैं और जन-साधारण से जीवन के सामान्य स्तर पर मिल सकते हैं। कई बार तो मुझे ऐसा भी लगता है कि वह साहित्य अथवा दर्शन के आधार पर आयोजित सभाओं और गोष्ठियों से भागने की चिन्ता में रहते हैं और व्यक्तिगत आधार पर ही लोगों से मिलना अधिक पसन्द करते हैं। मैं समझता हूं कि इस में अपरिग्रह की भावना है। जैनेन्द्रकुमार यदि चाहते तो अपनी प्रतिभा के आधार पर साहित्य समाज अथवा राजनीति किसी भी क्षेत्र में एक प्रथम श्रेणी के नेता बन सकते थे। परन्तु उन्हों ने सदा एक 'व्यक्ति' बने रहना ही अधिक अच्छा समझा—'व्यक्ति-विशेष' बन जाने से अपने को रोकना तो मन के बस की बात नहीं थी—और मैं समझता हूं कि इसी में जैनेन्द्र की वास्तविक महानता भी है।



हमारा दाम्पत्य जीवन

—भगवती जैन

कुछ लोगों ने कहा कि मैं 'इन' पर लिखूं। कभी इस तरह का लिखने का अवसर तो नहीं आया है। इसलिए स्वाभाविक है कि संकोच हो। कभी सोचा भी न था कि मुझे 'इन' पर लिखना होगा। इस से भी ४५ वर्षों के विभिन्न प्रसंगों का एक घटाटोप बन गया है। सूझ नहीं रहा है कि कैसे क्या और कहां से आरम्भ करूं? सन् २९ में हमारा विवाह हुआ था। मैं वहीं से आरम्भ करती हूं। सम्भव है कि आप को रोचक सामग्री उस में मिले।

सन् २८ की बात रही होगी। हमारे पिता जी के मित्र उग्रसैन सर्राफ आए और उन्होंने कहा कि एक लड़का दिल्ली में है, अगर चाहो तो उस से भगवती का रिश्ता कर दो। मेरे पिता मास्टर विशम्भर सहाय जी, बघरा, जिला मुजफ्फरनगर में रहते थे। मुजफ्फरनगर में एक सरकारी स्कूल में वह हेड मास्टर थे। पिता जी राजी हुए और चार पांच आदमी दिल्ली इन के यहां पहुंचे। इन के घर पर इन की माता जी—पूज्य रामदेवी बाई तथा इन के मामा महात्मा भगवानदीन जी मिले थे। लोगों को यह पसन्द आए। महात्मा जी का व्यक्तित्व निराला था। उन्होंने काफी आकर्षित किया। तभी इन की मां ने कहा कि मैं लड़की देखने के लिए बघरा आऊंगी। जब इन की मां गांव आईं तब गांव के सभी जन इन की मां के आकर्षक व्यक्तित्व से खूब प्रभावित हुए। वह खूब लम्बी चौड़ी बहुत तन्दुरुस्त थीं। हमारे पिता जी ने मेरी मां से जो उस समय बीमार थीं कहा—"भगवती को देखने के लिए दिल्ली से लड़के की मां आई हैं और वे गांव का खाना खाएंगी। खाना भगवती को ही बनाना चाहिए।" मैं ने खाना बनाया। उन्होंने खाना बहुत चाव से खाया। मुझ से उन्होंने सूत भी कतवाया और पूछा कि कहां तक पढ़ी हो? पिता जी ने बताया कि चार क्लास तक पास है। इस बात पर वह कुछ नहीं बोलीं। मुझे वह नीचे ही नीचे बराबर देखती रहीं। दूसरे दिन ही फिर रवाना हो गईं। हमारी मां ने पिता जी से कहा कि मैं तो अपनी लड़की की शादी इन के यहां नहीं करूंगी। वह तो जेवर

वगैरह कुछ नहीं पहनती है। पिता जी ने कहा कि जेवर वगैरह कोई चीज नहीं है। दिल्ली जा कर इन की माँ ने महात्मा जी से और इन से कहा कि मुझे लड़की पसन्द है तुम चाहो तो देख लो। इन्हों ने माँ से कहा—"तुम ने जो पसन्द कर ली है वह ठीक है, मुझे सब मन्जूर है।" महात्मा जी ने हमारे पिता जी को लिखा कि मैं मुजफ्फरनगर आ कर रुका। महात्मा जी दो-चार दिन बाद आ गए। एक महीने तक महात्मा जी हमारे यहाँ रहे। मेरी बहिनों और मुझ को खूब खिलाते पढ़ाते-लिखाते थे। महात्मा जी की कुछ दिनों बाद कुछ तबियत खराब हुई। उन्हों ने दिल्ली इन को लिखा कि कुछ फल ले कर यहाँ आ जाओ ये फल यहाँ मिलते नहीं। महात्मा जी के कमरे की खिड़की से सड़क साफ नजर आती थी। महात्मा जी के पास उस समय मैं पढ़ रही थी कि एकदम ताँगा आ कर रुका। देखा कि गांधी टोपी, खद्दर का कुर्ता धोती पहने हुए एक २१ २४ बरस का नवयुवक हाथ में टोकरी लिए हुए कमरे की तरफ आ रहा है। इतना देख कर शक हुआ कि दिल्ली से कोई आया है। यह पहला ही अवसर था कि इन्हें मैं ने देखा। मैं 'वहाँ' से एकदम भाग कर अपने घर आई। महात्मा जी ने मेरी छोटी बहन के मार्फत खबर अन्दर भिजवाई कि जैनेन्द्र आया है। महात्मा जी ने उसी दिन इन से कहा कि तुम चाहो लड़की देख सकते हो। इन्हों ने मना कर दिया और शाम की गाड़ी से वह रवाना हो गए। महात्मा जी ने विवाह की तिथि निश्चित कर दी और कहा कि लड़के और लड़की दोनों स्वयं ही वचन तैयार करें और दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रति उच्चारण करें। अग्नि-साक्षी या मन्त्र-पाठ आदि रीति का पालन नहीं किया जाएगा। विवाह राष्ट्रीय भावना से होगा। इस के बाद दिल्ली से भी एक पत्र महात्मा जी का आया कि फेरे या कोई लेन-देन नहीं रहेगा। लड़की जेवर वगैरह नहीं पहनेगी और विवाह वर-माला से ही सम्पन्न होगा। सात आदमियों की बरात पहुँची। विवाह के अवसर पर गाँव का गाँव ही उपस्थित था। पण्डित सुन्दरलाल जी व महात्मा जी दोनों ही वर के पिता थे। गाँव के लोगों के लिए यह विवाह एक आश्चर्य था। विवाह-मण्डप में अग्नि की वेदी का प्रश्न नहीं था। सिर्फ दो आसन थे। मण्डप में आ कर मैं ने इन्हें वर-माला पहनाई और फिर इन्हों ने मेरे गले में जयमाला डाली। इस के पश्चात् मैं ने कहा कि आप इस आसन पर पधारें। जो वचन पण्डित कराते थे हम दोनों ने पहले ही तैयार कर रखे थे और परस्पर दोनों ने एक दूसरे से वे वचन-करार कराए। वे वचन छापे भी गए थे और बड़े-बड़े इश्तहारों के रूप में बाँटे गए थे। यह गाँव के लोगों के लिए शान्ति पूर्ण और रचनात्मक बात थी कि अग्नि

यज्ञ और मन्त्र-पाठ तथा फेरे आदि औपचारिकताओं के बिना भी शादी सम्भव होती है। पंडित सुन्दरलाल जी ने बहुत जोरदार शब्दों में भाषण दिया था। "जिस रोज अंग्रेज फाँसी पर लटकेगा उस रोज मुझे बड़ी खुशी होगी।" मुझे इतनी बात सुन कर अचरज हुआ कि शादी के मौके पर भी यह आशीर्वाद दिया जाता है? महात्मा जी ने अपने थोड़े से व संयत शब्दों में बहुत शानदार आशीर्वाद दिया था। और बाद में सुनने में आया कि कुछ लोगों ने कानूनी निगाह से इस विवाह को अवैध भी ठहराया था।

(शादी के दूसरे दिन ही महात्मा जी हमें व इन को तथा और भाई-बहिनों को करीब के बगीचे में पिस्ती-चम्पा खिलाने ले गए। उसी दिन शाम को विदा थी। हमारे चाचा को विदाई पर एक शरारत सूझी। मैदे और खोये—दो मेल के पेड़े उन्होंने बनाये। मैदे के पेड़ों पर चाँदी का वरक था और खूब अच्छी तरह सजा कर एक थाल में इन के सामने रखा। यह वही चाँदी के वरक का पेड़ा खाने को हुए। खूब मजाक रहा।)

मैं जब दिल्ली पहुँची तो घर के द्वार पर ही इन की माँ यानी मेरी सास ने फूलों के हार पहनाए और कोंछली भर दी। इन की बड़ी बहन सुखदा ने तो जेवरात पहनाने की हठ भी की थी। उस पर महात्मा जी ने कहा "जिस रोज जैनेन्द्र कमाएगा उसी रोज भगवती जेवर पहनेगी। इस वक्त कोई भी जेवर उस के बदन पर नहीं होगा।" तब से आज तक कोई जेवर पर कभी निगाह नहीं गई है। उस समय इन का पूरा परिवार ही मौजूद था। महात्मा जी ने अपनी बहन (इन की माँ) से कहा "भगवती उसी तरह से रहेगी जैसे आप (जैनेन्द्र की मा जी) रहती है। कोई पर्दा वगैरह न करेगी न होगा।" मैं घर में बिल्कुल बच्चे की तरह रहने लगी थी। हमारी सास को कभी-कभी लगता भी था कि बहू और बेटी में कोई फरक ही नहीं रहा है। पर मुझ से वे कभी बोलीं नहीं। हमारी सास अत्यन्त कुशल दक्ष और साहसी थीं। उनकी व्यावहारिक सूझ-बूझ इतनी थी कि दिल्ली में पहाड़ी धीरज पर एक महिला आश्रम चलाती थीं। इस आश्रम में कन्याएं व विधवाएं पढ़ा करती थीं। महात्मा जी आश्रम की सभी लड़कियों को तथा मुझे भी जमुना जी में तैरना सिखाने ले जाते थे। जैसे और आश्रम की लड़कियां जांघिया पहन कर तैरना सीखती थीं उसी तरह मैं भी सीखती थी।

पहाड़ी धीरज पर तीन कमरों का किराए का मकान था। मकान की मालकिन को यह भाभी मानते थे और काफी स्नेह करते थे। उन्होंने मुझे भी बहुत प्यार से अपनाया। इन की प्रसिद्ध कहानी 'भाभी' की प्रेरणा भी इन्हें

इन्हीं 'भाभी' से मिली थी और यहीं लिखी गई थी।

जब शादी हुई और हम यहां आए तो जैनेन्द्र जी की एक दुकान थी किताबों की। उसी पर यह बैठा करते थे। एक मुनीम इन्हों ने दुकान पर रख रखा था। यह दुकान इन की मां ने अपने पास जो-कुछ भी पैसा था उस को लगा कर खुलवाई थी। उस से जो कमाई होती थी उसी से घर का खर्च चलता था। शादी के बाद इन में ऐसा आलस्य रहता था कि दुकान पर जा कर कभी बैठना ही नहीं मुनीम ही दुकान देखा करता था। उस समय आजादी की लहर तो चल ही रही थी। राष्ट्रीय कार्यों में यह भाग लेते रहते थे। इस से दुकान धीरे-धीरे खत्म होती गई और बन्द करनी पड़ी। इस से घर का खर्च मुश्किल से ही चलता था। वैसे इन की मां के सामने मेरे ऊपर कोई बोझ नहीं था। पैसे-धेले की चिन्ता उन्हीं पर थी। जब तक वह रहीं तब तक घर की देख भाल वह ही करती रहीं। इन को तो अपनी जिन्दगी में कभी घर की या बाहर की या पैसे की कभी कोई चिन्ता नहीं रही। तभी इन्हों ने लिखना शुरू किया। एक-दो कहानियां निकलीं जो लोगों को पसन्द आईं। उस के बाद इन्हों ने ('परख' उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। लालटेन के सामने सुबह ४ ५ बजे उठ कर या कभी-कभी रात में बैठ कर लिखते थे। इस के साथ मीटिंग और राष्ट्रीय कार्यों में भी भाग लेते रहते थे। ऐसे ही 'परख' पूरी हो गई। एक रोज मालूम हुआ कि 'परख' पर ५० रुपये का इनाम मिला है। इन की मां को जब यह बात मालूम हुई तो खुशी का ठिकाना न रहा। यह घर आए और मां ने कहा 'जैनेन्द्र तुम को 'परख' पर इनाम मिला है।' इन को भी आश्चर्य हुआ कि कैसा इनाम मिला है।

सन् १९३०-३१ की ही बात है, महात्मा गांधी जी का सत्याग्रह आरम्भ हुआ। एक दल इन्हों ने पन्द्रह-बीस आदमियों का बनाया। उस दल के नेता यही थे। उस समय जो नेतृत्व करता होता था वही सब से पहले सरकार की नजरों में रहता था। इस दल ने निश्चय किया कि वे नरेला गांव में जाकर नमक बनाएंगे। घर पर इन की बहनों हमारी सास और हम ने इन के व दल के सभी सदस्यों को तिलक किया और मालाएं डालीं। ऊपर से हम लोग बहुत खुशी-खुशी विदा कर रहे थे मगर अन्दर मन डांवा-डोल था। मेरी उम्र उस समय सत्रह साल की थी शादी हुए डेढ़ साल ही बीता था। नरेला जा कर इन्हों ने नमक वगैरह बनाना शुरू किया। दिल्ली कभी-कभी आना-जाना रहता था। गांव-गांव में मीटिंग करना और सरकार के खिलाफ भाषण आदि देना खूब जोरों पर था। इन की मां भी देश-सेवा में बराबर भाग लेती थीं। मैं ने

भी उन के साथ काम करना आरम्भ कर दिया था। दुकानों पर पिकेटिंग करना मन्दिरों में किसी को विलायती कपड़े पहन कर न आने देना तथा मीटिंग व जुलूस में भाग लेना हम लोगों के मुख्य कार्य रहते थे।

उसी समय अंग्रेजों के खिलाफ एक बहुत बड़ा जुलूस निकला। जुलूस में यह भी शामिल हुए थे। जुलूस जब कोतवाली (फौव्वारा) पर पहुंचा तो वहां पर पुलिस ने खूब गोलियां चलाईं। यह जुलूस में ही थे। इन को भी कई जगह चोटें आईं। बहुत से लोग घायल हो गए थे और मर भी कई गए थे। इन का तो दिन पर दिन काम बढ़ता ही गया। जहां भी कांग्रेस की कोई मीटिंग होती वहां यह सब से पहले पहुँचते। एक दिन सात आदमियों का दल बना और उस में पहला नाम इन का था। यह निश्चय हुआ कि यह घंटा-घर से भाषण देंगे जो कानून के खिलाफ था। यह जाने से पहले अपनी माँ से तथा हम से बोले "देखो, तुम हमारा सब सामान ठीक कर लो। अब हमारा कोई भरोसा नहीं है कि हम घर लौटें या नहीं।" इन की बात सुन कर इन की माँ की और हमारी आंखें भर आईं। मगर हिम्मत कर के इन का सब सामान हम ने एक बक्स में रख दिया। यह अपने सब साथियों के साथ विदा हो गए। यह घंटा-घर पर भाषण दे रहे थे। उस समय हम सास बहू दोनों उन का सामान ले कर वहां पहुच गईं। एक मकान की छत से हम ने देखा कि पुलिस ने इन्हें बाकी छहों साथियों समेत गिरफ्तार कर के म्युनी लारी में बिठा लिया। उस के बाद नारे नारे पर लोगों ने लगाने शुरू कर दिये और भीड़ बढ़ती ही गई और पुलिस की लाठियां चलती रहीं। हम लोगों ने सामान लिया और तांगा किया और इन की लारी के पीछे चल दिये। जिस समय जेल पर जा कर लारी रुकी हमारा तांगा भी तभी रुका। ये सब लोग भी लारी से उतरे। इन के गले में मालाएं पड़ी हुई थीं और हम लोगों को देख कर मुस्कराने लगे। इन की माँ तथा मेरी आंखों में पानी आया। भीड़ बहुत जमा हो गई थी जो नारे पर नारे लगा रही थी। इन को व सब साथियों को पुलिस ने बन्द कर दिया और हम सब नारे लगाते ही रहे। वहां से जुलूस निकाल कर पहाड़ी धीरज तक पांच मील तक पैदल ही चले आए। रोज पहाड़ी धीरज से पैदल इन के लिए खाना बना कर, ले कर जेल पहुंचती थी। जब तक मुकदमा शुरू नहीं हुआ तब तक रोजाना १५ २० मिनट की मुलाकात होती रही। मगर जब मुकदमा शुरू हुआ तो इन को 'बी' क्लास मिली और सब साथियों को 'सी' क्लास। पर इन्हों ने मजिस्ट्रेट से कहा कि वे इस क्लास के उपयुक्त नहीं हैं। न इतने पढ़े-लिखे हैं न सम्पन्न हैं। इसलिए इस क्लास का लाभ नहीं ले सकते हैं और मामूली कैदियों के साथ ही रहेंगे। पर

ती क्योंकि इन्हें मिली नहीं और जबर्दस्ती गोरे बैरकों में इन्हें भेज दिया गया। हम रोज इन से मिलने जाते थे। इन की मां इन के चेहरे को देख कर एक दम आंखें भर लाती थीं। यह हमेशा हम को और उन को ढाढस देते रहते थे। फिर इन को अपने साथियों से अलग कर दिया गया और पंजाब की स्पेशल जेल गुजरात रवाना कर दिया गया। किस दिन और किस स्टेशन से ये भेजे जायेंगे—इस की जानकारी किसी को नहीं थी। जेलर हमारी सास का बहुत आदर करते लगा था। उसी से सब जानकारी थी। स्टेशन पर हम दोनों सास-बहू भी पहुंचीं। पहले तो इजाजत नहीं दी पर बहुत जुरअत करने पर पांच मिनट का समय मिला। फिर गुजरात जेल से इन की चिट्ठी मुझे मिली थी। बहुत सान्त्वना की बातें उस में थीं। (इन के गुजरात जेल के पांच महीने बाद ही पहला लड़का दिलीप जन्मा था।) तभी हमारी सास ने तार दिया। और इन्हें जब जेलर ने बताया कि भाई तुम्हारा तार दिल्ली से आया है। तो झट इन्होंने कह दिया कि क्या लड़का हुआ है? जेलर को यह सुन कर आश्चर्य हुआ। इन के साथी लोगों में डा॰ अन्सारी डा॰ सत्यपाल डा॰ सुखदेव आदि ने जिन्होंने माता जी को चिट्ठियों से बधाई भेजी थी। एक महीने बाद ही हमारी सास ने गुजरात जेल के जेलर को चिट्ठी लिखी और मिलने की इजाजत मांगी। जवाब में पन्द्रह मिनट का समय मिला। खूब लड्डू आदि बना कर घर के पांच-छः लोग—हमारी सास हमारी ननद व उस का छोटा लड़का तथा मैं—सब मिलने के लिए चल पड़े। गुजरात स्टेशन पर गाड़ी रुकी और मैं नीचे उतर आई। हमारी सास ननद और बच्चे तब उतर रहे थे कि गाड़ी चल पड़ी। गाड़ी दो-तीन फर्लांग आगे निकल गई थी। सास जी ने जंजीर खींच कर गाड़ी रुकाई। फिर टी॰ टी॰ से कहा कि हमारी एक महीने की बच्चा स्टेशन पर उतर गई है, गाड़ी पीछे लौटाओ। टी॰ टी॰ ने कहा कि आप लोग यहां उतर जाइए, हम आप का सामान यहां से पहुंचवा देंगे। मगर उन्होंने ने कुछ नहीं माना और लाचार हो कर उन्हें गाड़ी पीछे लौटानी पड़ी। स्टेशन के करीब ही एक धर्मशाला में सामान रखा और जेल गए। वहां इन से मुलाकात हुई। दिलीप गोद में था उसे सब लोग अन्दर ले गए। मैं और यह पन्द्रह मिनट तक बात चीत करते रहे। हम से बात तो कुछ हुई नहीं, बस रोना आता था। दिलीप जब अन्दर से वापस आया तो उस के गले में मालाएं, हाथ में गोला छुआरा आदि थे जो भेंट दिए थे सब लोगों ने। हम सब तीन-चार दिन रुक कर फिर वापिस आ गए।

एक वर्ष के बाद ये छूट कर आए। इस के बाद भी सत्याग्रह और राष्ट्रीय

कार्यों में भाग लेते रहे। थोड़े दिन बाद फिर पकड़े गए। और मुलतान जेल सात महीनों के लिए भेज दिए गए।

इन के जेल जाने के बाद भी खर्चा माँ ही चलाती थीं। सच की बात मुझ पर नहीं आती थी। हाँ विमीप के बाद एक लड़का और हुआ था। जब वह चार-पांच महीने का था तो उसे बड़ी बेचक निकल आई थी। डा० युद्धवीर सिंह के इलाज में वह था। वह बच्चा दिन पर दिन गिरता ही गया और उसी में चल बसा। इन की जेल से सान्त्वना की चिट्ठी मुझे मिली थी। यह मुलतान जेल से सन् ३१ में आ गए थे। फिर धीरे धीरे लिखने की तरफ कुछ ध्यान देने लगे थे।

सन् ३३ ३४ में एक बड़ी कान्फ्रेंस हुई थी। प्रेमचन्द जी उस कान्फ्रेंस में आए थे। एक रोज रात को प्रेमचन्द जी को दस बजे के करीब घर पर यह लाए और उन्होंने माँ से कहा 'माँ बाबू जी (प्रेमचन्द) आए हैं और भी चार पांच लोग हैं, सब लोग अभी खाना खाएंगे।' हमारी माँ ने हँस कर कहा "बेटा अभी खाना तैयार हो जाता है।" हमारे श्वसुर, महात्मा जी प्रेमचन्द जी और सब लोग बाहर के कमरे में बातें करते रहे और प्रेमचन्द जी की हँसी खाना बनाते समय हमारे कानों में गूंज रही थी। क्या मुक्त उन की हँसी थी? हमारी सास ने खाने के बाद प्रेमचन्द जी से कहा "यह आप की बहू है।" मैं ने उन के पैर छुए और उन्होंने मुझे अपने करीब ही बिठा लिया।

सन् ३७ में १२ दरियागंज में मकान लिया था। इसी मकान में ही प्रेमचन्द जी व शिवरानी देवी आई थीं। महात्मा जी भी यहीं थे। खूब चहल-पहल रहती थी। होली के दिन वे यहीं पर थे। बहुत से लोग होली खेलने गये और गुलाल लगाया। उन की वह बड़ी-बड़ी मूँछें और हँसता हुआ चेहरा गुलाल से खिल रहा था। दस-बारह रोज तक वे यहाँ रहे थे। बाद में बनारस से चिट्ठी आई कि प्रेमचन्द जी बीमार हैं, उन्हें जलोदर हो गया है। 'हंस' पत्र उस समय निकला करता था। उस पत्र को सम्भालने के लिये बाबू जी इन्हें चाहते थे। इन्होंने मुझ से कहा "चार पांच महीने के लिए मुझे जाना पड़ेगा। तुम यहाँ अकेली कैसे रह सकती हो।" तभी ७/१६ दरियागंज का मकान लिया गया। उस समय मकान में बिजली नहीं थी। टिन के दरवाजे तब चढ़ दिए गए थे। तब से अब तक उसी मकान में रहते आए हैं। बिजली तो करीब १८ साल तक नहीं आई थी। सख्त गर्मियों में एक रोज रात के आठ बजे के करीब किसी ने दरवाजा खटखटाया। हम दोनों की चारपाई नीचे छोटे से आंगन में बिछी हुई थी। मैं लालटेन ले कर जीने की तरफ दौड़ी।

देखा वहाँ बाबू शान्तिप्रसाद जी खड़े हुए हैं। गर्मी काफी तेज थी। वे चारपाई पर बैठ गये। हाथ का पंखा मेरे हाथ में था। मैं पंखा कर रही थी। वे बोले "नहीं भाभी कोई गर्मी नहीं लग रही है।"

इन के पास तो हमेशा ही जमघट लगा रहता था। प्रभाकर माचवे भारत भूषण अग्रवाल नेमिचन्द्र जैन श्रीपत और मदक सभी इसी छोटे से मकान में चौकड़ी जमाया करते थे। प्रभाकर माचवे अक्सर यहीं आते थे। 'जैनेन्द्र के विचार' किताब यहीं लिखी गई थी। हमारे साथ बहुत खुश तबीयत से बातें करते थे। रोजाना कुछ न कुछ खाने के लिए नई चीजों के लिए जिद रहती थी। मेरे साथ ही यह लोग चौके में बैठ कर खाना बनवाते थे। बिजली थी नहीं। ये लोग लालटेन ले कर इधर-उधर घूमते रहते थे। आज यह लोग दिल्ली आते हैं और कुछ तो रहते ही नहीं हैं। पर कभी घर आते ही नहीं। एक वह समय था कि छोटे से कमरे में सब के सब जमघट जमाये रहते थे। चारों तरफ से भाभी भाभी की ही पुकार आती थी। वात्स्यायन हमेशा इसी घर में ठहरते थे। उन की बहन इन्दुमती वर्षों तक इस घर में रही है। इन्दु से छोटी बहन जैसा प्यार रहा है। जैनेन्द्र जी वात्स्यायन को बहुत चाहते थे। घण्टों बैठ कर ये दोनों भाई जम कर चर्चा करते थे। साथ बैठ कर खाना-पीना रहना-सहना। बहुत-बहुत स्नेह इन को था। मुझे भी वे भाभी का आदर देते थे। मैं वात्स्यायन जी को सगे देवर से भी ज्यादा मानती थी।

  

सियारामशरण व छोटे भाई चारुशिलाशरण यहीं ठहरते थे। भाई साहब हमारे घर के प्रति अगाध स्नेह रखते थे। इन्हें तो वह अपना भाई ही मानते थे। वह बिल्कुल घर में घुल-मिल जाते थे। वे बहुत ही गम्भीर आदमी थे। कितनी भी तकलीफ रहती थी वे हमेशा खुश नजर आते थे। जब तक वह यहाँ रहते थे मेरी तारीफ ही करते रहते थे। घर की पूर्ण स्थिति से वे वाकिफ थे। एक बार वैसे ही उन के सामने मन उदास हो आया तो वे बोले "इतने दिन आप ने तकलीफ से काट लिए हैं अब तो आगे सुख ही सुख है।" हमेशा उन का प्यार इन से बना रहा। जब भी वे दिल्ली आते घर पर अवश्य आते थे। मैथिलीशरण जी भी कई बार खाने पर आते थे। जब वे दिल्ली होते तो फोन कर के हम सभी को बुला लेते थे। खूब स्नेह हमें उन का मिला है। एक जरा से समय में ही वे पूरे परिवार की सारी जानकारी ले लेते थे। उन को हमारे बड़े लड़के दिलीप से बहुत प्यार था। हमेशा उस की बातें करते रहते थे। एक बार हम दोनों चिरगाँव गये। तीन रोज तक वहाँ ठहरना हुआ। उस

घर में सारा परिवार कितने प्रेम से रहता दिखाई दिया। सुबह जिस वक्त नाश्ता होता था, उस दिन की स्निग्धता और आर्द्रता अभी तक बनी हुई है। एक गद्दी पर मैथिलीशरण जी बैठे हुए थे। चारों तरफ सारा परिवार और बच्चे बैठे हुए थे। बीच में थाल भरा हुआ पकौड़ियों का आ गया। तब बच्चों को हँस-हँस कर कह रहे हैं "अरे भई, खाओ। बहुत बढ़िया बनी हैं। भगवती यह देखो यह पकौड़ी बहुत बढ़िया बनी है। एक और लो—एक और लो। अरे बैनेन्द्र तुम भी खाओ भई।' हम ने जितना प्यार उस घर में देखा है, कहीं देखने को नहीं मिला। बाहर के आदमियों से कितना स्नेह व प्यार किया जाता था कि कभी यह लगता ही नहीं था कि कहीं और हैं। मैथिलीशरण सियाराम शरण जी और इन में खूब स्नेह और आदर भाव था। बड़े-बड़े परिवार की देश की साहित्य की—पता नहीं क्या-क्या चर्चाएं करते थे।

o o o

माँ का देहान्त सन् १९ के अन्त में हुआ था। उन्हें भी क्षयरोग हो गया था। माँ के मरने के बाद सारा बोझ घर का मेरे ऊपर आ गया। जब वे गई थीं तब एक लड़का (दिलीप) और एक लड़की (कुसुम) तथा दो हम चार बने थे। पैसे की हालत हमेशा दिक्कत की रही है क्योंकि कोई काम तो यह करते नहीं थे। लिखने से ही जो पैसा आता था उसी में घर का खर्च चलता था। दिन पर दिन घर का खर्च बढ़ता चला गया। पैसे की हालत वैसी ही रही। जब मैं इन को कुछ कहती पैसे के बारे में तो यह चुप रहते, कोई जवाब न देते थे। मुझे और भी गुस्सा आता था। समझ में नहीं आता था कि क्या करूं? कभी-कभी तो मन में बहुत सी बातें आती रहतीं फिर अपने को ही समझाती कि हिम्मत से ही काम लेना चाहिये। इन में आलस्य इतना रहा है कि कभी सोचते कि मैं बिल्कुल नियम से कमाऊंगा। हम ने आदमी रखा लिखाने के लिए। आदमी लिखाने के लिए आता और आप सोते ही रहते। मुझे यह सब देख कर बेहद तकलीफ होती। मैं इन से कहती, 'क्या बात है कि घर का कोई बोझ तुम्हारे ऊपर नहीं है, फिर भी आप कोई काम काज नहीं करते।' तो मुंझला कर कहते "मैं पैसे के लिए नहीं लिखता हूं। अगर तुम चाहो तो मैं नौकरी कर लूंगा।" इस से आगे कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। जब आपस में इस बात को ले कर गुस्सा उतर आता तो कहते 'भगवती क्यों फिकर करती हो। कभी आज तक हम लोग भूखे तो रहे नहीं। और अपने से नीचे देखो कितने लोग रहते हैं जिन को खाने को रोटी नहीं मिलती है।"

इन के यह शब्द सुन कर गुस्सा उस समय के लिए खत्म हो जाता। फिर

बाद में भी कहती : अपने लिए नहीं चाहिए, मगर बच्चों के लिए तो चाहिए। बच्चों को पढ़ाना है, सिखाना है।" यह कहते : अरे गई, सब हो जाएगा। क्यों चिन्ता करती हो ?"

दिन पर दिन बच्चे बड़े होते गए और पढ़ाई उन की शुरू हो गई। खर्च बढ़ते ही गए। बाद में परिवार भी बढ़ता ही गया। एक लड़का (प्रदीप) और दो लड़की (कुमुद तथा कनक) परिवार में आ गए थे। सब बच्चों की पढ़ाई शुरू हो गई। अब बड़ी लड़की ने एम० ए० करके लॉ कर लिया और मैं इन से कहा करती थी "गई तुम फिकर नहीं करते हो, बड़ी लड़की सयानी हो गई है, पैसा हमारे पास है नहीं। क्या होगा ?" यह सुनकर चुप रह जाते। कहते : 'फिकर क्यों करती हो, जब होने वाला होगा तो अपने आप हो जाएगा।

जिन दिनों कुसुम के लॉ का पेपर हो रहा था, उन्हीं दिनों एक रिश्ता उस के लिए आया और दो-तीन दिनों के अन्दर ही अन्दर सब तै हो गया। शादी की तारीख भी निश्चित हो गई। तो मुझ को भी लगा कि पैसा हमारे पास अभी नहीं था, अब यह देखो कि किस्मत ही बड़ी है। इन्हीं का कहना ठीक निकला कि भगवान भरोसे रहो सब ठीक हो जाएगा।

बाद में और दोनों लड़कियों को भी पढ़ा-लिखा कर के उनका भी रिश्ता अपने आप ही हो गया। तीनों लड़कियां अपने घर बहुत खुश हैं। अब यह मुझ से कहते हैं : 'तुम पैसा-पैसा कहती हो, देखो हमारी किस्मत कितनी अच्छी है कि तीनों लड़कियां कितने अच्छे घर में गई।

कभी-कभी मुझे इन की बातें अच्छी तो लगती हैं, पर घर तो मुझे ही संभालना पड़ता है, बिना पैसे के तो कोई चीज आती ही नहीं और इन की हालत तो यह है कि कभी उस बारे में सोचते ही नहीं। जिस वक्त मुझे गुस्सा आता मैं खूब कह-सुन लेती और यह बस चुप्पी साध जाते। चुपचाप उठ कर आफिस में चले जाते। मैं सोचती कि वहां जा कर कुछ लिख रहे होंगे। थोड़ी देर में आफिस में टैलीफोन करती तो मालूम होता कि यह तो सो रहे हैं। फिर मन में आता कि क्या किया जाए ? गुस्सा करने से भी इन के मन पर कुछ असर ही नहीं होता तो किया क्या जाए ?

शाम को घर आते और यह भी देखते कि घर-वगैरह सब साफ है, कपड़े धुल हुए हैं और खाना बन रहा है। तो कहते "कुछ खाने को है ?"

मैं पहले तो एक-दो बार जवाब नहीं देती। मन में नाराजगी तो रहती ही। फिर यह कहते "अरे गई, कुछ खाने को हो तो दो।"

मैं कुछ जवाब न दे कर जो कुछ भी होता उन के सामने रख देती।

जब इंगलैंड जाने लगे तो इन का खर्चा तो सरकार ने दिया। अब घर का हाल तो जैसा था वैसा था ही। आफिस का काम बड़ा लड़का (फिलीप) संभालता था। वहां से जा कर इन्होंने फिलीप को चिट्ठी लिखी कि बेटा तुम घर में पैसे का ख्याल रखना। और एक चिट्ठी मेरे पास भी आई। उस में लिखा था कि मैं यहां बहुत आराम से हूं और बहुत बड़े होटल में ठहरा हूं। तुम्हारी याद मुझे बराबर आती है और सोचता हूं कि तुमको मेरी वजह से बहुत तकलीफें बरदाश्त करनी पड़ती हैं। तुम्हीं इतनी बहादुर हो कि जो अपने घर को मुझ को और बच्चों को संभाले रहती हो। भक्ति (भगवती) जैसा कोई चीज नहीं है। सचाई सब से बड़ी चीज है। इसी में से पैसा अपने आप निकलता आएगा।

आज मैं यह सब बातें सोचती हूं तो समझ में आता है कि जो वह कहते हैं, है तो ठीक ही। वह जब इंगलैंड से वापिस आए तो इन की तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी हो गई थी। पर, आते ही इनको पीलिया हो गया। चार महीने तक चारपाई पर ही रहे, और किसी डाक्टर की दवा इन्हों ने न की। अपने ही खान-पीने का ठीक रखा और उसी से धीरे-धीरे अच्छे होते चले गए। जब रात को मुझे जागना पड़ता था तो मुझ से कहते 'तुम को मैं ने बहुत तकलीफ दी कभी कोई आराम तो मैं ने दिया ही नहीं।" मैं इन बातों की परवाह न कर के जो मेरा काम होता करती चली गई। इन का वात्सल्य अब भी वैसा का वैसा ही बना हुआ है।

एक रोज प्रभाकर माचवे आए। उस समय मैं खाना बना रही थी। कहने लगे 'भाभी, दुनिया बदल गई है। तुम्हारा घर और तुम नहीं बदली हो।"

मैं ने कहा "अरे भई, अब क्या बदलना है।"

उपवास नहीं, दूध मलाई

—कविराज रणजीतप्रसाद जैन

जनवरी १९१५ का प्रातःकाल समय ९, १० बजे। १३ दरियागंज की एक कोठी के बरामदे में बड़ी-सी चटाई बिछी है। सामने से सुखद धूप आ रही है। चटाई पर थोड़े-थोड़े व्यवधान से स्व० प्रेमचंद जी उनकी पत्नी श्रीमती शिव रानी और श्री जैनेन्द्रकुमार बैठे हैं। पास ही कुछ पीछे स्व० महात्मा भगवान दीन जी विराजमान हैं।

जैनेन्द्र जी को खांसी है। मामूली नहीं जोर की भयंकर खांसी है। ज्वर बहुत मामूली है।

जैनेन्द्र जी खांसे जा रहे हैं खांसे जा रहे हैं। कुछ बोलना चाहते हैं पर खांसी है कि दम लेने ही नहीं देती है। बड़ी मुश्किल से दम साध कर कुछ कहना शुरू किया—

"उपवास को कई दिन हो गए हैं खांसी में कोई आराम नहीं हुआ। प्राकृतिक चिकित्सा चल रही है। महात्मा जी का कहना है कि उपवास से वह अपने दमे पर काबू पाते हैं तो मेरी खांसी भी उसी क्रिया से ठीक होनी चाहिए।" होठों के सामने मुट्ठी लगा कर खांसते हैं, और पुनः बोलना प्रारम्भ करते हैं "कई दिनों से रात को नींद भी नहीं है। बाबू जी आज रात मुझे एक विचार मणि प्राप्त हुई है। मुझे लगता है यह खांसी और कफ की लड़ाई है। कफ को बाहर निकालने को यह हुई है। जो अनाचार से शरीर में एकत्र हुआ है उस कफ को बाहर निकालने में यह प्रयत्नशील है" खांसते हैं

बरामदे के एक किनारे पर बनारसी पानों का पिटारा रखा हुआ है। उस में से शिवरानी जी पान लगा कर स्व० प्रेमचंद जी को देती हैं। पान चबाते हुए सस्मित मुद्रा में वह बोलते हैं—"भई जैनेन्द्र, बात तो तुम ने पते की पाई है। चिंतक हो चिंतामणि क्यों न पाओगे। लेकिन इस उपवास से कफ की हत्या करना चाहते हो न ऐसा न करो। उसे प्यार से जीतो। खांसी को कुछ तर माल खिलाओ। तुम देखोगे कि वह अपने में स्नेह की शक्ति पाकर इस कफ

को विजय करेगी।"

दो साहित्य-मनीषियों की परस्पर वार्ता को स्व० महात्मा जी भी सुन रहे थे। स्व० प्रेमचंद जी के तर्क को सुन कर महात्मा जी तनिक मुस्कराए। बोले—"तब क्या करना चाहिए ? उपवास में तो पानी नींबू-पानी नमक-पानी फलों का रस चलता है। इसी से रोग-निवारण होना चाहिए। "

"ठीक है आपकी बात" प्रेमचन्द जी बोले पर उपवास का प्रतिरोध क्या व्यापक होगा ? इस खांसी को भी शक्ति चाहिए। उसे स्नेह की शक्ति चाहिए। उपवास की इस विधि से उसे उस शक्ति की ही प्राप्ति हो सकती है। आप दूध मलाई खिलाइये इस खांसी को। और देखिए कि वह पुष्ट हो कर शरीर में एकत्र दोष को कितनी शीघ्रता से निकाल बाहर करती है। "

दूध-मलाई की बात सुन कर जैनेन्द्र जी ने हंस कर महात्मा जी की ओर प्रश्न भरी दृष्टि डाली।

"क्यों जैनेन्द्र क्या कहते हो" महात्मा जी ने कहा 'चाहो तो आज से उपवास खतम। मलाई और मिश्री खाकर उपवास तोड़ो।"

उसी दिन से मलाई-मिश्री का प्रयोग आरम्भ हुआ। सुबह शाम आध आध पाव मलाई दी जाने लगी।

कहना न होगा कि इस प्रयोग से १४ दिन की अवधि में ही खांसी में आश्चर्यजनक लाभ हुआ। मलाई की स्निग्धता और मिश्री की मधुरता से पुष्ट हो कर वह शरीर के दोष को लेकर न जाने कहां तिरोहित हो गई।

मूल्यांकन

हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार दो नहीं हैं

—श्री 'अज्ञेय'

श्री जैनेन्द्रकुमार या उन के व्यक्तित्व के विषय में कुछ लिखना आसान नहीं है। उन की निजी प्रकृति भी अत्यन्त उलझाव भरी है और उन के लेखन में भी जटिलता है। दोनों की ऊपरी सरलता वास्तव में एक आवरण है जो इस उलझाव को छिपाए रहती है। वास्तव में ऐसा है यह निजी परिचय से अथवा उन की रचनाएं पढ़ने से क्रमशः स्पष्टतर होता जाता है लेकिन उस का प्रखर तम बोध उन का प्रवचन सुनने में होता है। उन के प्रवचन सुनने में बहुत अच्छे लगते हैं और बड़े प्रभावोत्पादक होते हैं। कम से कम मुझे तो जब-जब उन की बात सुनने का अवसर मिला है मैं उस की विलक्षणता और बारीकी से अभिभूत हो गया हूं। वाक्छिल्प का और यथार्थ की बारीकी का इतना प्रभावशाली उपयोग आधुनिक हिन्दी में अन्यत्र कम ही मिलेगा।

किन्तु जिस उलझाव की बात मैं कह रहा हूं वह तब अपने ठोस रूप में सामने आ जाता है जब प्रवचन सुनने के बाद अन्त में हम अपने आप से यह प्रश्न करते हैं कि वक्ता ने आखिर कहा क्या? और अगर किसी विवादास्पद विषय की चर्चा थी तो उन्होंने कौन-सा पक्ष लिया अथवा उनकी प्रतिज्ञा क्या थी? शायद ही कभी इस प्रश्न का सीधा-स्पष्ट उत्तर मिलता हो। अन्त में हम इसी परिणाम के साथ रह जाते हैं कि जैनेन्द्रकुमार हमारे सम्मुख आए और जब तक सम्मुख रहे जैनेन्द्रकुमार रहे और जब सामने से हट गए, तब हम ने जाना कि अब जैनेन्द्रकुमार हमारे सामने नहीं हैं। जैनेन्द्र जी स्वयं इस बात को न जानते हों ऐसा भी मुझे नहीं लगता। मेरा विश्वास है—और इस विश्वास पर मैं लम्बे अनुभव के बाद पहुँचा हूं—कि जैनेन्द्र जी अच्छी तरह जानते हैं कि उन का क्या प्रभाव पड़ता है और इस के लिए प्रयत्नशील भी रहते हैं कि वह प्रभाव पड़े यानी वह जो हैं जान-बूझ कर हैं ऐसा नहीं कि जैसे रचे गए थे इसलिए हैं। यानी यह व्यक्तित्व नैसर्गिक नहीं उपार्जित है।

मैं कहूं कि उन के आख्यान-साहित्य का—उपन्यास और कहानी का—शिल्प भी इस प्रवृत्ति और इस परिस्थिति का उदाहरण है—उस में भी अनिवार्यतया एक सतही ऋजुता है और सतह के नीचे अनेक बारीकियों का उलझाव। जैनेन्द्र जी अपने लेखन में अथवा प्रश्नोत्तर में बराबर इस से इनकार करते हैं और कहते हैं कि वह शिल्प के बारे में जानते ही नहीं सतर्क शिल्पी होने की बात तो दूर। लेकिन सचाई यह है कि आज के हिन्दी आख्यानकारों और विशेष तया कहानीकारों में सब से अधिक 'टैक्नीकस' वही हैं। टेक्नीक उन की प्रत्येक कहानी की और (पहले उपन्यास को एक सीमा तक अपवाद मान कर) सभी उपन्यासों की आधार-शिला है। यह नहीं है कि ऐसा मैं उनके कृतित्व के प्रति अवहेलना के भाव से कह रहा हूं बल्कि मेरी दृष्टि में यह प्रशंसा का विषय है। मैं मानता हूं कि अब तक भी कई नए कहानी-लेखक क्रान्ति और युग परिवर्तन के अपने दावों के बावजूद शिल्प के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार से बहुत कुछ सीख सकते हैं।

मैं तो वर्षों से जैनेन्द्र जी का ऋणी हूं। मेरी पहली कहानियों का प्रकाशन उन की मध्यस्थता में हुआ इतना ही नहीं मेरा 'साहित्यिक' नाम भी उन्हीं का दिया हुआ है। यह ठीक है कि मैं स्वेच्छा से वह नाम कभी नहीं चुनता—और यह भी सम्भव है कि आज कदाचित जैनेन्द्र जी भी मुझे वह नाम न देते। यह तो संयोग था कि जेल से चोरी से बाहर भेजी गई मेरी कहानियों की कापी उन्हें एक मित्र ने उन दिनों दिखाई जिन दिनों जैनेन्द्रकुमार को यह विशेषण (अज्ञेय) प्रिय था क्योंकि जो कुछ भी अज्ञेय है उस का आकर्षण उन के लिए प्रबल था। (कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र जी की उन दिनों की मानसिक स्थिति का चित्र अगर एक लघु वाक्य द्वारा खींचना हो तो वह वाक्य होगा "ओ तू अज्ञेय! "—जो अनन्तर और भी संक्षिप्त हो कर हो गया "ओ तू!) मेरी उस कापी में से दो कहानियां जैनेन्द्र जी ने स्व० श्री प्रेमचन्द को भेजी थीं जिस में से एक उन के द्वारा सम्पादित 'जागरण' में छपी थी। (उस कहानी को स्वीकार करते समय प्रेमचन्द जी ने अनुमान नहीं किया था कि जैनेन्द्र जी ने ही अपनी रचना एक नए छद्म-नाम से भेजी है।)

जैनेन्द्र जी का ऋणी मैं इसलिए भी हूं कि मेरे जेल से आ जाने के बाद हमारे आरम्भिक पत्र-व्यवहार में वह प्राय: मेरे लेखन और मेरे विचारों की कड़ी आलोचना किया करते थे। अधिकतर उन से मैं सहमत तब भी नहीं हो पाता था और अब भी नहीं हो पाता, किन्तु उन की आलोचनाओं की तीव्रता क्योंकि मेरे प्रति एक सहज आत्मीयता ही प्रमाणित करती थी इसलिए मैं उन से

नाम भी उठा सकता था।

हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार दो नहीं हैं। जो एक जैनेन्द्रकुमार हमारे मध्य में हैं वह अभी पीढ़ियों तक हमारे मध्य में रहें और अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की सम्पूर्णता के नवीनोन्मेष से हमें कृतार्थ करते रहें षष्ठि-पूर्ति के पुनीत अवसर पर इसी कामना के साथ उन का अभिनन्दन करता हूँ।(उन की भाषा की वह मधुरता उन के विचारों की वह बारीकी और वह मुधीलापन और उन के शिल्प की वह सफ़ाई, उन की रचना-प्रक्रिया में लक्षित होने वाला वह कौशल और हस्त-लाघव—सभी की अभी हिन्दी को—हिन्दी भाषा को भी और साहित्य को भी—आवश्यकता है।)

जीवन धर्मी उपन्यासकार जैनेन्द्र

—डा० रामरतन भटनागर

एक के बाद एक जैनेन्द्र ने आठ उपन्यास हमें दिए हैं। 'तपोभूमि' को हम छोड़ देते हैं और 'अनाम स्वामी' अभी अपूर्ण ही सामने आया है। ये उपन्यास जैनेन्द्र के कथा-जगत के महत्वांश भी नहीं हैं क्योंकि उन की कहानियों में उन समस्याओं को तथा और भी अनेक समस्याओं को उठाया गया है जो सुविधा और सामर्थ्य रहने पर उपन्यास भी बन सकती थीं। यही नहीं, जैनेन्द्र का विचारक निबन्धों वार्ताओं और टिप्पणियों में भी उन कुछ मूल प्रश्नों पर विचार करता रहा है जो इन उपन्यासों में भरे हैं। इस जीवन-व्यापी कृतित्व की भूमिका में ही हमें उन की स्फुट रचनाओं को देखना होगा और उन के पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए भी उन के सामाजिक कथाकार पर दृष्टि केन्द्रित रखनी होगी।

क्या जैनेन्द्र की इन रचनाओं के पीछे कोई क्रम-विकासात्मक अनुचिन्तन है? वह जीवन के पीछे दौड़े हैं या विचार के? उन की रचनाओं में वस्तु-स्थिति का चित्रण है या सम्भावनाओं का? वह मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं या सामाजिक कथाकार या वैचारिक कथाकार? यदि हम इन रचनाओं में कोई आंतरिक व्यवस्था और सुनिर्दिष्ट चेतना पा सकें तो क्या हम उन के सत्य की आंच को झेलने के लिए तैयार हैं? साहित्य का धर्म न जीवन के धर्म से बच सकता है न उसे खंडित कर सकता है। हम जैनेन्द्र जैसे मूलबद्ध चिंतक से यह आशा नहीं कर सकते कि वह अवचेतन को निरंकुश छोड़ कर अराजकता पैदा करेगा या चमत्कार-सिद्धि पर टिक कर विस्फोटक बन जाएगा। अपने काम-साहित्य में जैनेन्द्र ने बुद्धि को निरंतर हटाया है परन्तु वह कहीं भी अबौद्धिक नहीं हुए हैं। बुद्धि पर टिक कर ही वह उस की असमर्थता को चरितार्थ करते हैं।

दर्शन अध्यात्म, धर्म समाज—ये जीवन के बाहर नहीं हैं और जैनेन्द्र इन में पूरे-पूरे रमे हैं। फिर हम उन से किस स्वतंत्र साहित्य धर्म का आग्रह करते हैं या मनोविज्ञान या रस की सीमा मात्र में सिमट जाए। जैनेन्द्र जीवन

धर्मी कलाकार हैं और उन की कला सामाजिक और सर्वग्राही है। अतः उन को हम न रोमांस का बंधन दे सकते हैं न आदर्श का न यथार्थ का क्योंकि जीवन इन सब को समेट कर भी इन से ऊपर है। होने में ही उस की सार्थकता नहीं है, कुछ आगे बढ़ कर बनने में भी उसकी सार्थकता है। इसीलिए वास्तव-अवास्तव का प्रश्न भी उन के साहित्य में नहीं उठता।

'परख'

जैनेन्द्र के पहले उपन्यास 'परख' (१९२९) में ही हमें उन के विचारक रूप का आभास हो जाता है, यद्यपि कथा-प्रवाह और नई भाषा-शैली के चमत्कार में हम उन महत्वपूर्ण प्रश्नों को शीघ्र ही भूल जाते हैं जो पृष्ठभूमि में झांक रहे हैं। पहली बात तो यह है कि जैनेन्द्र जीवन के केन्द्र में स्त्री को रख बैठे हैं और यहां तक कह जाते हैं कि धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है। उन के शब्द हैं—"पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को, कुटुम्ब को बनाती है जाति और देश को भी, मैं कहता हूं स्त्री ही बनाती है। फिर उन्हें बिगाड़ती भी वही है। आनन्द भी वही और कलह भी, दुराव भी और उजाड़ भी दूध भी और खून भी और फिर पाप की मरम्मत और श्रेष्ठता भी—सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है सभ्यता स्त्री पर निर्भर है और फैशन की जड़ भी वही है। एक शब्द में कहें—दुनिया स्त्री पर टिकी है। जो आंखों से देखते हैं चुपचाप इस तथ्य को स्वीकार कर झुकके बैठे रहते हैं, ज्यादा चूं नहीं करते। जिस के आंखें नहीं वे मानें या न मानें हमारी बला से।"

परन्तु स्त्री की यह प्रमुखता अपने में यों ही नहीं है। वह प्रेम और विवाह के प्रश्नों को ले कर है, क्योंकि यही जीवन के अधिकांश भाग को घेरते हैं, परन्तु प्रेम और विवाह में से यदि किसी एक को चुनना पड़ जाए तो आदमी क्या करे? वह प्रेम को चुने या विवाह को? द्वंद्व की स्थिति यहीं से शुरू होती है। एक अवश्य टूटेगा—प्रेम या विवाह क्योंकि दोनों को ले कर चलने वाले सौभाग्यशाली कम ही होंगे। फिर यह भी तो सम्भव है कि प्रेम घर के बाहर से भीतर आ कर विवाह पर चोट करे और घरौंदा ही टूट जाए। कौन टूटेगा पति या पत्नी? या दाम्पत्य की गांठ इतनी दृढ़ रहेगी कि बाहर से आने वाला प्रेम असामय कर जाएगा? परन्तु यदि वह प्रेम दो-तरफा है तो कुछ-न-कुछ संकट तो उपस्थित ही होगा। इस प्रकार प्रेम और विवाह की समस्या जैनेन्द्र के उपन्यासों की प्रमुख समस्या बन जाती है।

नियतिवाद

इस तरह चल कर विवाह के माध्यम से समाज आता है और समाज हमें मानो कालबद्ध मनश्चेतना को चुका कर किसी और भी सूक्ष्म और सशक्त मूलाधार की ओर इंगित कर देता है—नियति या ईश्वर या क्या ? (जैनेन्द्र अपनी रचनाओं की परिणति इसी नियतिवाद या ईश्वरवाद में करते हैं—और स्पष्ट ही यह समस्या का कोई समाधान नहीं है) इस से न व्यक्ति सार्थक होता है, न समाज परन्तु समझौते और समाधान हमें मिल जाते हैं। इस 'ईश्वर' को बीच में ला कर औपन्यासिक कला की दृष्टि से जैनेन्द्र अबूझ बन गए हैं। उन्होंने बुद्धि को हुत किया है और मनोविज्ञान को पीछे डाल दिया है परन्तु विचारक कथाकार के लिए, कोई तो आधार चाहिए, जिस पर टिक कर वह घटनाओं और पात्रों को संभाल सके। जैनेन्द्र की टेक है नियति या परमात्मा। दोनों एक हैं क्योंकि दोनों अबूझ और अंतिम हैं और उन पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता।)

'परख' में इस समस्या का क्या हल है ? सत्य समाज से समझौता कर लेता है प्रेम को छोड़ कर वह विवाह पर टिक जाता है और गरिमा उस की हो जाती है। वह समाज का सम्भ्रान्त और सफल सदस्य बनता है। उधर कट्टो और बिहारी विवाह के स्थान पर अविवाह प्रेम—प्लैटानिक लव—का मार्ग चुनते हैं। यों समाज भी बना रहता है और प्रेम की समस्या भी सुलझ जाती है, क्योंकि समाज को इस में कोई द्विधा नहीं है कि उस को स्वीकार कर लिया गया और चुपचाप उससे बाहर चला गया है।

'सुनीता'

अपनी दूसरी रचना 'सुनीता' (१९३५) में जैनेन्द्र प्रेम और विवाह के इस द्वन्द्व को और भी गहरा कर देते हैं, क्योंकि प्रेम यहाँ पूर्वरागी नहीं है विवाह में उस की परिणति नहीं होती। वह विवाह (दाम्पत्य जीवन) के प्रति चुनौती के रूप में सामने आया है। जैनेन्द्र ने सुनीता के विरस दाम्पत्य जीवन की नीरसता को उभार कर इस चुनौती की उपयुक्त भूमिका भी दे दी है। प्रश्न यह कि घर-बाहर में कौन जीतता है (। प्रेमशीलत्व की शोभा से अलंकृत नारी घर में रह जाती है या नारीत्व की दीप-शिखा बन कर घर से बाहर समाज में आ जाती है ? घर टूटता है या घर की दीवारों से टकरा कर 'बाहर' बाहर ही रह जाता है। ।

'सुनीता' में घर बना ही नहीं रहता है और भी सुदृढ़ हो जाता है। परन्तु

इस का क्या भरोसा कि उस पर फिर आक्रमण नहीं होगा और फिर टूटने की समस्या उठ खड़ी नहीं होगी ? 'मुक्त' और 'विवर्त' (१९४६) में जैनेन्द्र ने इस समस्या को फिर लिया है और घर को तोड़ा है। एक में पत्नी टूटी है दूसरे में पति। इस प्रकार के ये तीनों उपन्यास एक ही प्रश्न के तीन समाधान उपस्थित करते हैं।

'त्यागपत्र'

काल क्रम से 'सुनीता' के बाद 'त्यागपत्र' (१९३५) का प्रकाशन हुआ। इस में टूटे हुए घर की समस्या है। घर-बाहर की कोई समस्या नहीं है क्योंकि घर एक तरह से बना ही नहीं है या बनते-बनते रह गया है। वास्तव में 'त्यागपत्र' समस्यामूलक नहीं है, क्योंकि जो समस्या थी वह मृणाल की मृत्यु से (बलिदान से) हल हो गई है। रह गई है व्यथा, जो भतीजे चीफ जज सर एम० दयाल से त्यागपत्र दिलवाती है। इसी बुआ मृणाल ने भोगा और चली गई, परन्तु भोगने से क्या कोई चुक जाता है ? इसीलिए मृणाल की कथा पैप हो कर भी निःशेष नहीं हुई है। 'त्यागपत्र' ने सारे हिन्दू-समाज को ही अदालत में खड़ा कर दिया है समस्या यदि है तो गहरी है, अर्थात् पाप-पुण्य की है—कि बुआ (मृणाल) पापी है या नहीं ? कथाकार ने उसकी ही कथा दी है, जितनी भतीजे की आँखों ने देखी, या उस ने अनुमानित की, शेष मृणाल जाने या भगवान क्योंकि इस उपन्यास में कथाकार सर्वद्रष्टा का चोला उतार कर कथा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। जहाँ तक सर एम० दयाल का सम्बन्ध है, उपन्यास की कहानी उन की आत्म-प्रवंचना की कहानी है, परन्तु उन की आत्म प्रवंचना उन की कथा बन सकती है वह समाज की आकांक्षा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। ('त्यागपत्र' शीर्षक ने मृणाल को पीछे डाल दिया है, परन्तु न्याय नहीं है।)

'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल विवाह से टूट कर घर के बाहर खड़ी हो गई है, परन्तु समाज पति-परित्यक्ता नारी को कैसे स्वीकार करे ? वह उसे पापिन मानता है और उपन्यासकार को मृणाल का पक्ष ले कर समाज की इस मान्यता पर आघात करना पड़ता है। सर एम० दयाल के त्यागपत्र में समाज हारा है मृणाल जीती है परन्तु यह कब ? जब वह मर चुकी है। परन्तु हार कर भी समाज मरता नहीं है सर एम० दयाल को ही समाज से बाहर जा कर हरिद्वार में विरक्त जीवन बिताना पड़ रहा है। समाज और मृणाल के बीच में सर एम० दयाल किसी एक को निश्चित रूप से दोषी नहीं ठहरा सके हैं, क्योंकि वह स्वयं समाज-भीरु हैं। 'त्यागपत्र' का सारा द्वन्द्व इन पंक्तियों में है जिन में

कर 'प्रीमियर-प्रेमी' से मार्मिक लाभ उठाना चाहता है और यह अवसरवादिता नारी के उन विकसने से भी बड़ी विभीषिका है, परन्तु इस मोड़ के बिना भी कहानी कम मार्मिक नहीं थी। कहानी में मिस्टर देवलालीकर और कल्याणी का उन के सम्बन्ध में स्वप्नाभास कल्याणी की मनोस्थिति का सूचक भले हो इस से कथा की आत्मीयता ही बढ़ी है बैठता नहीं (इसी प्रकार पाम में हरिप्रसन्न और 'सुखदा' तथा 'विवर्त' के क्रान्तिकारियों की पुनरावृत्ति है।) ऐसा लगता है कि कृति में मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हुए जैनेन्द्र पूर्वकृति के समाधान पर पहुँचे हैं और अन्त में 'प्रीमियर' उन्हें हाथ लग गए हैं। इस से देवलालीकर और पात्र कथा तथा चरित्र के विकास की दृष्टि से व्यर्थ भी हो गए हैं। इस से रचना का कला-सौष्ठव अवश्य संकट में पड़ा है और वह उलझ गई है। जो हो यह स्पष्ट है कि 'कल्याणी' में जैनेन्द्र घर के भीतर की तोड़-फोड़ को पति और प्रेमी के दो केन्द्रों में बाँट कर स्त्रीत्व की विभीषिका और अहम की पराकाष्ठा के दो अन्तिम छोरों पर जा टिके हैं। एक तरह से यह उन की सब से अधिक प्रतिवादी रचना कही जा सकती है।

'त्यागपत्र' की तरह 'कल्याणी' भी समूचा व्यंग्य है। यह व्यंग्य मृणाल और कल्याणी के हार कर मर जाने में है। भीतर के महान् आदर्श भी उन्हें बचा नहीं सके परन्तु वे उन पर टिकी रहीं। यह आदर्शों के प्रति जैनेन्द्र का पक्ष पात कहा गया है और उन्हें प्रतिवादी आदर्शवाद का जनक माना गया है, परन्तु यह मनुष्य की लाचारी है कि वह मर कर ही आदर्श को सार्थक बना सकता है। उस की अपनी सार्थकता मरने में है, परन्तु यह मरना औरों की आँखें खोल देता है। व्यक्ति के लिए जो आदर्श बने वह समाज के लिए अभिशाप भी हो सकता है चुनौती भी बन सकता है।

'परख' से 'कल्याणी' तक जैनेन्द्र के उपन्यास-लेखन का एक चक्र पूरा हो जाता है और वह दस वर्षों के लिए चुप हो जाते हैं परन्तु वह एकदम चुप भी नहीं रहते, क्योंकि अपनी प्रेम और दाम्पत्य की कहानियों के द्वारा वह समाधानों की खोज में लगे रहते हैं।

दस वर्षों के बाद जब जैनेन्द्र 'सुखदा' 'विवर्त' और 'व्यतीत' के साथ फिर एक बार उपन्यास की ओर मुड़े तो घर की सुदृढ़ता के प्रति उन की आस्था डगमगाने लगी थी।

'सुखदा'

'अनन्तर' की कथा नारी के नारीत्व-साधना की कथा है। पति से स्वतंत्र बन

इस का क्या भरोसा कि उस पर फिर आक्रमण नहीं होगा और फिर टूटने की समस्या उठ खड़ी नहीं होगी? 'मुक्ता' और 'विवर्त' (१९५२) में जैनेन्द्र ने इस समस्या को फिर लिया है और घर को तोड़ा है। एक में पत्नी टूटी है दूसरे में पति। इस प्रकार के ये तीनों उपन्यास एक ही प्रश्न के तीन समाधान उपस्थित करते हैं।

'त्यागपत्र'

काल क्रम से 'सुनीता' के बाद 'त्यागपत्र' (१९३९) का प्रकाशन हुआ। इस में टूटे हुए घर की समस्या है। घर-बाहर की कोई समस्या नहीं है, क्योंकि घर एक तरह से बना ही नहीं है या बनते-बनते रह गया है। वास्तव में 'त्यागपत्र' समस्यामूलक नहीं है, क्योंकि जो समस्या थी वह मृणाल की मृत्यु से (बलिदान से) हल हो गई है। रह गई है व्यथा, जो भतीजे जीफ जज सर एम० दयाल से त्यागपत्र दिलवाती है। इसी बुआ मृणाल ने भोगा और चली गई, परन्तु भोगने से क्या कोई चुक जाता है? इसीलिए मृणाल की कथा खत्म हो कर भी निःशेष नहीं हुई है। 'त्यागपत्र' ने सारे हिन्दु-समाज को ही अदालत में खड़ा कर दिया है समस्या यदि है तो गहरी है, अर्थात् पाप-पुण्य की है—कि बुआ (मृणाल) पापी है या नहीं? कथाकार ने उतनी ही कथा की है, जितनी भतीजे की आंखों ने देखी, या उस ने अनुमानित की, शेष मृणाल जाने या भगवान् क्योंकि इस उपन्यास में कथाकार सर्वद्रष्टा का चोला उतार कर कथा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। जहाँ तक सर एम० दयाल का सम्बन्ध है उपन्यास की कहानी उन की आत्म-प्रवंचना की कहानी है, परन्तु उन की आत्म प्रवंचना उन की कथा बन सकती है वह समाज की आकांक्षा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। ('त्यागपत्र' शीर्षक ने मृणाल को पीछे डाल दिया है, परन्तु व्यय नहीं है।)

'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल विवाह से टूट कर घर के बाहर खड़ी हो गई है परन्तु समाज पति-परित्यक्ता नारी को कैसे स्वीकार करे? वह उस पापिन मानता है और उपन्यासकार को मृणाल का पक्ष ले कर समाज की इस मान्यता पर आघात करना पड़ता है। सर एम० दयाल के त्यागपत्र में समाज हारा है, मृणाल जीती है परन्तु वह कब? जब वह मर चुकी है। परन्तु हार कर भी समाज मरता नहीं है सर एम० दयाल को ही समाज से बाहर जा कर हरिद्वार में विरक्त जीवन बिताना पड़ रहा है। समाज और मृणाल के बीच में सर एम० दयाल किसी एक को निश्चित रूप से चुन नहीं सके हैं क्योंकि वह स्वयं समाज-भीरु हैं। त्यागपत्र का मार्मिक स्थल इन पंक्तियों में है जिन में

नियतिवाद

इस तरह चल कर विवाह के माध्यम से समाज आता है और समाज हमें अपनी कालबद्ध मनश्चेतना को भुला कर किसी और भी सूक्ष्म और सशक्त मूलाधार की ओर इंगित कर देता है—नियति या ईश्वर या क्या ? (जैनेन्द्र अपनी रचनाओं की परिणति इसी नियतिवाद या ईश्वरवाद में करते हैं—और स्पष्ट ही यह समस्या का कोई समाधान नहीं है) उस से न व्यक्ति सार्थक होता है, न समाज, परन्तु समझौते और समाधान हमें मिल जाते हैं। इस 'ईश्वर' को बीच में ला कर औपन्यासिक कला की दृष्टि से जैनेन्द्र अबूझ बन गए हैं। उन्हों ने बुद्धि को हरा दिया है और मनोविज्ञान को पीछे डाल दिया है परन्तु विचारक कथाकार के लिए, कोई तो आधार चाहिए, जिस पर टिक कर वह घटनाओं और पात्रों को संभाल सके। जैनेन्द्र की टेक है नियति या परमात्मा। दोनों एक हैं क्योंकि दोनों अबूझ और अंतिम हैं और उन पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता।)

'परख' में इस समस्या का क्या हल है ? सत्य समाज से समझौता कर लेता है, प्रेम को छोड़ कर वह विवाह पर टिक जाता है और गरिमा उस की हो जाती है। वह समाज का सम्भ्रान्त और सफल सदस्य बनता है। उधर कट्टो और बिहारी विवाह के स्थान पर अतिशय प्रेम—सैद्धान्तिक सब—का मार्ग चुनते हैं। यों समाज भी बना रहता है और प्रेम की समस्या भी सुलझ जाती है, क्योंकि समाज को इस में कोई द्विधा नहीं है कि उस को स्वीकार कर लिया गया और चुपचाप उससे बाहर चला गया है।

'सुनीता'

अपनी दूसरी रचना 'सुनीता' (१९३५) में जैनेन्द्र प्रेम और विवाह के इस द्वन्द्व को और भी गहरा कर देते हैं, क्योंकि प्रेम यहां पूर्वराजी नहीं है विवाह में उस की परिणति नहीं होती। वह विवाह (दाम्पत्य जीवन) के प्रति चुनौती के रूप में सामने आता है। जैनेन्द्र ने सुनीता के विरस दाम्पत्य जीवन की रिक्तता को उभार कर इस चुनौती की उपयुक्त भूमिका भी दे दी है। प्रश्न यह कि घर-बाहर में कौन जीतता है। पत्नीत्व की शोभा से मनोहर नारी घर में रह जाती है या नारीत्व की नीड़-भित्ति भग कर घर से बाहर समाज में आ जाती है ? घर टूटता है या घर की दीवारों से टकरा कर 'बाहर' बाहर ही रह जाता है।

'सुनीता' में घर बना ही नहीं रहता है और भी सुदृढ़ हो जाता है। परन्तु

उस में उन्होंने पति-पत्नी के मनोद्वंद्व के कारण टूटे हुए दाम्पत्य जीवन को चित्रित किया है और घर को भीतर से तोड़ा है। जैसे कल्याणी आधुनिक है और शिक्षित नारी-समाज का प्रतिनिधित्व कर सकती है परन्तु उस के भीतर का नारीत्व और मातृत्व भी पति की धन लिप्सा के कारण बराबर कुंठित हो जाता है और अंत में वह भीतर से रिक्त होकर टूट जाती है। मृणाल को समाज के दबाव ने तोड़ा है तो कल्याणी को दाम्पत्य ने (या पति ने)। शिक्षिता होते हुए भी वह पति के लिए चुनौती नहीं बन सकी। मृणाल समाज को सहती है और कल्याणी पति को। दोनों ही टूटती हैं, परन्तु दाम्पत्य की वेदी पर कल्याणी की बलि बलि ही है वह बलिदान नहीं बन सकी है। उस से हम ऊपर नहीं उठते वरन् जुगुप्सा से भर जाते हैं। यह स्पष्ट है कि इसमें जैनेन्द्र ने कथा को मांसल बनाने के लिए मनोविश्लेषणात्मक उपकरणों का विशेष रूप से उपयोग किया है और उपन्यास 'केस-हिस्ट्री' बन गया है। इस प्रकार से इस उपन्यास के साथ जैनेन्द्र का घर-बाहर का द्वन्द्वात्मक अध्ययन बंद गली में पहुंच जाता है। बाद की रचनाओं में समस्याओं और समाधानों की पुनरावृत्ति ही हुई है।

कुछविदग्ध आलोचकों ने 'कल्याणी में पर-पीड़ा के प्रति मानसीय अभिरुचि देखी है और उन के विचार में जैनेन्द्र मानवीय विकृति की सीमा पर पहुंच गए हैं। परन्तु यह कल्याणी का पीड़ा प्रेम नहीं उस की आत्मा में पहले वाले 'प्रीमियर' के प्रेम को उज्ज्वलता देकर शरीर को एकदम तिरोभावित कर देना है। जितना गहरा उस का प्रेम है उतना ही गहरा पीड़ा का दबाव भी वह सहन करती है।

कल्याणी की भावना का पति के द्वारा शोषण जब अन्तिम सीमा पर पहुंच जाता है और देह की पीड़ा आत्मा की पीड़ा में बदल जाती है तब यह उसके लिए दुःसह हो जाता है और वह जान-बूझ कर मौत की शरण में चली जाती है (या भेज दी जाती है)। डाक्टर असरानी के रूप में लेखक ने महाजनी समाज में उच्च शिक्षिता नारी के सामयिक शोषण का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह पतित होते के स्वयं परस्पर भी है। जहाँ मूल में ही भूल है, जहाँ दाम्पत्य कब है? क्या 'कल्याणी' पति की संस्था पर भी तीव्र व्यंग्य नहीं है? परिवार ही नहीं टूटा है दम्पति भी टूटे हैं क्योंकि बाहर से प्रेम न पा कर विछोह की आंच बीच में पड़ गई है। परन्तु जहां दाम्पत्य पत्नी के शोषण पर खड़ा है, वहां बाहर से उस के तोड़ने की आवश्यकता भी नहीं। परन्तु कल्याणी यह सब कैसे सहती? कदाचित इसलिए जैनेन्द्र ने उपन्यास के अन्त में 'प्रीमियर' के प्रेम का नया सूत्र चला कर इस उपन्यास को पूर्ववर्ती भूमिका दे डाली है। पति उसे जान

विरक्त एम० दयाल कहते हैं—"विवाह की ग्रंथि दो के बीच की ग्रंथि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह क्या टूटती है? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह क्या यों टाले से टल सकता है? वह गांठ है जो बंधी कि खुल नहीं सकती टूटे तो टूट भले ही जाए, परन्तु टूटना कब किस का श्रेयस्कर है!"

परन्तु प्रश्न यह है कि व्यक्ति क्यों टूटे और समाज क्यों बना रहे? इस प्रश्न का कोई समाधान जैनेन्द्र नहीं देते, क्योंकि कोई समाधान उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक हम अराजकतावादी न बन जाएं और समाज की अनिवार्यता को अस्वीकार ही न कर दें। नारी के विद्रोह को समाज पर खर्च न कर जैनेन्द्र उसे पचने देते हैं और इस प्रकार समाज को टूटने से बचा जाते हैं, परन्तु यहाँ लेखक की दार्शनिकता और वस्तु स्थिति का उसे सहारा है। नियतिवाद और समाज का प्रस्तुत ढांचा जो होने देता है वही तो होता है। लेखक अनेक सम्भावनाओं में से वही लेगा जो शाश्वत जीवन-बोध और सामयिक स्थिति पर लागू हो सकेगी। इस के लिए हम उसे क्यों दोष दें? इसे हम लेखक का आदर्शवाद कह कर भी छुट्टी पा सकते हैं परन्तु यह मानना होगा कि जैनेन्द्र ने फिर भी समाज को बचाया नहीं है उसे खपाया ही है। सर एम० दयाल के त्यागपत्र में आलोचकों के प्रति उस का उत्तर अन्तर्निहित है। तात्कालिक प्रश्न समाज की सीमाओं को ले कर है और उस पर समाज की कहानी असम्भव नहीं उतरती। शाश्वत प्रश्न नियतिवाद या ईश्वर को ले कर है और उस पर लेखक का दृष्टिकोण भारतीय-संस्कृति से पुष्ट है। इन दोनों सीमाओं के भीतर ही 'त्यागपत्र' आलोच्य बन सकेगा और इन्हें ध्यान में रख कर ही हम उसके प्रति न्याय कर सकेंगे।

समीक्षकों ने मृणाल की कथा को लिया है, उस की व्यथा को नहीं लिया। जैनेन्द्र के व्यापक सामाजिक और दार्शनिक सूत्रों को वे अनदेखा कर गए अथवा उन्हें अप्रासंगिक मान बैठे (परन्तु जैनेन्द्र पहले विचारक हैं फिर कथाकार) कथा उन के विचार को खोलती है। वह उदाहरण है मात्र उदाहरण नहीं है और भी कुछ है क्योंकि उसकी पीड़ा कुछ दुर्वह भी हो जाती है।

'कल्याणी'

'कल्याणी' (१९३९) जैनेन्द्र के उपन्यास-लेखन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है और इस की रचना का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि इस के बाद जैनेन्द्र मौन हो जाते हैं और दस वर्ष बाद फिर उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त होते हैं।

इस में उन्हों ने पति-पत्नी के अन्तर्द्वन्द्व के कारण टूटे हुए दाम्पत्य जीवन को चित्रित किया है और घर को भीतर से तोड़ा है। जैसे कल्याणी आधुनिक है और शिक्षित नारी-समाज का प्रतिनिधित्व कर सकती है परन्तु उस के भीतर का नारीत्व और मातृत्व भी पति की धन-लिप्सा के कारण बराबर कुंठित हो जाता है और अंत में वह भीतर से रिक्त होकर टूट जाती है। मृणाल को समाज के दबाव ने तोड़ा है तो कल्याणी को दाम्पत्य ने (या पति ने)। शिक्षिता होते हुए भी वह पति के लिए चुनौती नहीं बन सकी। मृणाल समाज को सहती है और कल्याणी पति को। दोनों ही टूटती हैं परन्तु दाम्पत्य की वेदी पर कल्याणी की बलि बलि ही है वह बलिदान नहीं बन सकी है। उस से हम ऊपर नहीं उठते वरन् जुगुप्सा से भर जाते हैं। यह स्पष्ट है कि इसमें जैनेन्द्र ने कथा को मांसल बनाने के लिए मनोविश्लेषणात्मक उपकरणों का विशेष रूप से उपयोग किया है और उपन्यास 'केस-हिस्ट्री' बन गया है। इस प्रकार से इस उपन्यास के साथ जैनेन्द्र का घर-बाहर का द्वन्द्वात्मक अध्ययन बंद गली में पहुंच जाता है। बाद की रचनाओं में समस्याओं और समाधानों की पुनरावृत्ति ही हुई है।

फ्रायडियन आलोचकों ने 'कल्याणी' में पर-पीड़ा के प्रति अमानवीय अभिरुचि देखी है और उन के विचार में जैनेन्द्र मानवीय विकृति की सीमा पर पहुंच गए हैं। परन्तु यह कल्याणी का पीड़ा प्रेम नहीं, उस की आत्मा में पहले वाले 'प्रीमियर' के प्रेम को उज्ज्वलता देकर शरीर को एकदम तिरोभावित कर देना है। जितना गहरा उस का प्रेम है, उतना ही गहरा पीड़ा का दबाव भी वह सहन करती है।

कल्याणी की भावना का पति के द्वारा शोषण जब अन्तिम सीमा पर पहुंच जाता है और देह की पीड़ा आत्मा की पीड़ा में बदल जाती है तब यह उसके लिए दुःसह हो जाता है और वह जान-बूझ कर मौत की शरण में चली जाती है (या भेज दी जाती है)। डाक्टर असरानी के रूप में लेखक ने महाजनी समाज में प्रच्छन्न शिक्षिता नारी के सामाजिक शोषण का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह पतित होने के साथ अमावह भी है। जहां मूल में ही कुत्ता है, वहां दाम्पत्य कब है? क्या 'कल्याणी' पति की संस्था पर भी तीव्र व्यंग्य नहीं है? परिवार ही नहीं टूटा है, दम्पति भी टूटे हैं क्योंकि बाहर से प्रेम न पा कर विद्रोह की आंच बीच में पड़ गई है। परन्तु जहां दाम्पत्य पत्नी के शोषण पर खड़ा है वहां बाहर न उस के तोड़ने की आवश्यकता भी नहीं। परन्तु कल्याणी यह सब कैसे सहती? कदाचित इसलिए जैनेन्द्र ने उपन्यास के अन्त में 'प्रीमियर' के प्रेम का नया सूत्र चला कर इस उपन्यास को पुनरागमी भूमिका दे डाली है। पति उसे मान

कर 'प्रीमियर-प्रेमी' से आर्थिक लाभ उठाना चाहता है और यह अवसरवादिता नारी के तन बिकवाने से भी बड़ी विभीषिका है, परन्तु इस मोड़ के बिना भी कहानी कम मार्मिक नहीं थी। कहानी में मिस्टर देवलालीकर और कल्याणी का उन के सम्बन्ध में स्वप्नाभास कल्याणी की मनोस्थिति का सूचक भले हो इस से कथा की आत्मीयता ही बढ़ी है वेदना नहीं (इसी प्रकार 'पाप' में हरिप्रसन्न और 'सुखदा' तथा 'विवर्त' के क्रांतिकारियों की पुनरावृत्ति है।) ऐसा लगता है है कि कृति में मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हुए जैनेन्द्र पूर्वकृति के समाधान पर पहुंचे हैं और अन्त में 'प्रीमियर' उन्हें हाथ लग गए हैं। इस से देवलालीकर और पात्र कथा तथा चरित्र के विकास की दृष्टि से व्यर्थ भी हो गए हैं। इस से रचना का कला-सौष्ठव अवश्य संकट में पड़ा है और वह उलझ गई है। जो हो यह स्पष्ट है कि 'कल्याणी' में जैनेन्द्र घर के भीतर की तोड़-फोड़ को पति और प्रेमी के दो केन्द्रों में बांट कर स्त्रीत्व की विभीषिका और सहन की पराकाष्ठा के दो अन्तिम छोरों पर जा टिके हैं। एक तरह से यह इन की सब से अधिक प्रतिवादी रचना कही जा सकती है।

('त्यागपत्र' की तरह 'कल्याणी' भी समूचा व्यंग्य है। यह व्यंग्य मृणाल और कल्याणी के हार कर पस्त जाने में है। भीतर के महान् आदर्श भी उन्हें बचा नहीं सके, परन्तु वे उन पर टिकी रहीं। यह आदर्शों के प्रति जैनेन्द्र का पक्षपात कहा गया है और उन्हें प्रतिवादी आदर्शवाद का जनक माना गया है, परन्तु यह मनुष्य की लाचारी है कि वह पस्त कर ही आदर्श को सार्थक बना सकता है। उस की अपनी सार्थकता पस्तने में है परन्तु यह पस्तता औरों की आंखें खोल देता है। व्यक्ति के लिए जो आदर्श बने वह समाज के लिए अभिशाप भी हो सकता है, चुनौती भी बन सकता है।

'परख' से 'कल्याणी' तक जैनेन्द्र के उपन्यास-लेखन का एक चक्र पूरा हो जाता है और वह दस वर्षों के लिए चुप हो जाते हैं परन्तु वह एकदम चुप भी नहीं रहते क्योंकि अपनी प्रेम और दाम्पत्य की कहानियों के द्वारा वह समाधानों की खोज में लगे रहते हैं।

दस वर्षों के बाद जब जैनेन्द्र 'सुखदा' 'विवर्त' और 'व्यतीत' के साथ फिर एक बार उपन्यास की ओर मुड़े तो घर की गुरुता के प्रति उन की आस्था चलायमान हो उठी थी।

'सुखदा'

('सुखदा' की कथा नारी के नारीत्व-साधना की कथा है।) पति से स्वतंत्र बन

र पत्नी (विवाहिता नारी) अपना जीवन अपने हाथ में लेना चाहती है, परन्तु इस
ातंत्र्य के पीछे विद्रोह का आक्रोश और संस्कारवद्ध कुण्ठा भी काफी सामाजिक
हो कर व्यक्तिगत भी बन जाता है। जो हो यह स्पष्ट है कि पति की उदा
रता को अपरिसीम विस्तार दे कर भी जैनेन्द्र इस समस्या का समाधान नहीं कर
ाए हैं क्योंकि घर तो टूटता ही है, परन्तु इस के साथ हिंसात्मक क्रांतिकारियों
की कथा भी है जो पति के बाल-मित्र हरिदा (हरीश) के आत्म-समर्पण पर
समाप्त होती है। यह समर्पण सुखदा के पति (कान्त) के हाथ से ही हुआ है
और इस ने उस के विद्रोह को विच्छेद तक पहुंचा दिया है। सुखदा को यह
तक पहुंचा कर लेखक मध्यवित्ती नारी के स्वातंत्र्य को भ्रम ही सिद्ध करता है,
परन्तु यह स्पष्ट है कि यह उपन्यास लेखक की घर-बाहर की समस्या को एक
नया मोड़ देता है। प्रेमचन्द की भी एक सुखदा है (कर्मभूमि में) और उन के
साहित्य में सुमन ('सेवासदन' में) में भी नारी के विद्रोह और स्वातंत्र्य के चित्र
हमें मिलते हैं, परन्तु वहां यह विद्रोह जीवन-दर्शन नहीं बना है, न उसे मनो
वैज्ञानिक प्रवि ही बनाया गया है। सुमन एक झटके में घर के बाहर आ जाती
है और अन्त में हार कर संन्यासी पति द्वारा स्थापित सेवासदन (आश्रम) में
आश्रय ग्रहण करती है। कर्मभूमि' की सुखदा को पति का साथ देने के लिए घर
की चहारदीवारी से निकल कर नेत्री बनना पड़ता है परन्तु जैनेन्द्र की सुखदा
को पति के बन्धन से मुक्त होने के लिए अपने से ही झगड़ना पड़ता है, क्योंकि
वहां बन्धन नहीं है वहां भी उस के संस्कार विद्रोह की कल्पना कर लेते हैं।
यह स्पष्ट है कि बंधन बाहर के नहीं हैं भीतर के हैं और एक बार तोड़ कर
उन्हें जोड़ा नहीं जा सकता (रवीन्द्र के 'चार अध्याय' और शरच्चन्द्र के 'पथेर
दाबी' से प्रभावित होने पर भी जैनेन्द्र नारी-विद्रोह की इस कहानी को आत्मि
कता दे सके हैं)। इस में सन्देह नहीं कि उन की सुखदा की तेजस्विता सुमन या
'कर्मभूमि' की सुखदा से कम नहीं है यद्यपि वह औपन्यासिक (कर्ममयी) कम
है, मानसी अधिक है। एक कारण यह भी है कि वह व्यतीत है बीत गई है और
बीते की स्मृति में बंध तो है परन्तु जीवन नहीं है। फिर भी यह सच है कि यह
विचारक उपन्यासकार का नया प्रयोग है। 'सुखदा' और 'विवर्त' में अन्तर यह
है कि 'सुखदा' में संकट की ओर साहस से बढ़ने वाली नारी का चित्रण है जो
कहीं भी आत्म-रक्षक नहीं है परन्तु 'विवर्त' में विपत्ति अनाहूत आई है और
एक ही समस्या के दो विभिन्न समाधान या चित्रण हमें इन उपन्यासों के द्वारा
मिल जाते हैं। भुवनमोहिनी को जो अनायास ही प्राप्त हो गया है उसे हम कैसे
अस्वीकार कर दें ? 'सुखदा' में नारी-जीवन की मुक्ति की आकांक्षा पल्लवित

है (वैवाहिक जीवन में भी पत्नी पत्नीत्व के बोझ से मुक्त हो कर स्वातंत्र्य का अनुभव कर सकती है या नहीं वह आत्मोपलब्धि के क्षेत्र में कहाँ तक अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है) यह सुनंदा की समस्या है। परन्तु 'विवर्त' में प्रेम के बीच में वर्ग आता है और वर्ग-मुक्ति का प्रयास पुरुष को क्रांतिकारिता की ओर बढ़ा देता है। रेल गिरा कर जितेन वर्गवाद (अमीरी) के प्रति ही अपने आक्रोश को प्रकट नहीं करता अपने प्रति अपनी खीझ को भी कर्म की वाणी बना देता है। यह कर्म की वाणी प्रेम की असफलता का विस्फोट मात्र है। इस प्रकार उपन्यास में दो जीवन-मूल्यों को तर्क की डोर में नहीं भाव की डोर में बांध दिया गया है। प्रेम और अमीरी (वर्ग) के प्रति विद्रोह हिंसात्मक क्रांति (या आक्रामक राष्ट्रीयता) से जोड़ दिए गए हैं। अंत में जितेन पार्टी को भंग करने का आदेश दे कर आत्म-समर्पण कर देता है परन्तु यह समर्पण हरिदा के आत्म विश्वास और हृदय-परिवर्तन के भीतर से नहीं आता। यह प्रेम-काम्य कुण्ठा पर आत्म बलिदानी प्रेम की विजय है। अन्त में विजय भुवनमोहिनी की होती है। वह जितेन के भीतर से जीवन की विफलता को नष्ट कर देती है क्योंकि वह जितेन के अवचेतन को विफल कर देती है—वह अपने जीवन की आत्म प्रवंचना से परिचित हो जाता है। इस से उस का ग्रंथि-मोचन होता है। वह भाव ले कर निकल पड़ता है और रात भर रेत पर लोट-पोट कर द्वन्द्वों से मुक्ति पाने में सफल होता है। मोहिनी की अकिंचनता ने उस के भीतर की गांठ निकाल दी है। अब वह आत्म प्रवंचक नहीं आत्मनिष्ठ है। इसीलिए वह अकुंठित और सहज भाव से अपनी देह को चड्ढा के हाथ में सौंप देती है। जितेन जान लेता है कि उस का प्रेम अस्वीकृत नहीं है परन्तु वह पति और पत्नी दोनों में से किसी को नहीं तोड़ सकता। वह दोनों को अधिक निकट ही ला सकता है क्योंकि दोनों का उद्देश्य यही है कि वह अपने प्रति अहिंसक बने। नरेश के घर में पहुंचते ही पहले दिन जितेन ने जान लिया है कि वह सुख है तो अनायास ही जितेन (सहाय) के मुंह से निकल जाता है—'सुख होने की बात है। देखता हूं यहां सच है और आधिपत्य पर इतना विश्वास है कि शंका की छाया को जगह नहीं। तो इस को विवाह कहते हैं?"

विवाह सत्य है, परन्तु प्रेम क्या असत्य है। सत्य और स्नेह (प्रेम) दोनों की रक्षा करने में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। एक साथ दोनों की रक्षा हो जाए यह तो साधारण साधना नहीं है। इसीलिए जैनेन्द्र ने उपन्यास के केन्द्र में अपने जीवन-दर्शन को इन शब्दों में रख दिया है—"हार (वह) हमारी नहीं होती, सिर्फ मिथ्या की होती है।" लेकिन सत्य क्या है? क्या सब स्नेह-बंधनों

को अस्वीकार करता जाए, यही सत्य है? क्या उन की पवित्रता और आंतरिकता को निर्वसन और निरावलम्ब करता जाए, यही सत्य है? नहीं, तो फिर इस जगत में कैसे बसना होगा? सब कुछ तो बाहर आने के लिए है नहीं। अन्दर हमारे क्या कुछ घृणा कर्दम, अपथ्य नहीं है? वह भीतर बन्द है इसी में तो सान्त्वना है। ऊपर रूप है कि अपरूप भीतर रहे। ऐसा है तो क्या? उचित ही नहीं है? इस में अन्यथा क्या है? क्या सत्य है यह कि रूप को ऊपर नहीं रहने दिया जाएगा और अपथ्य ऊपर और बाहर सब ओर फैलने देना होगा?

'व्यतीत'

'व्यतीत' जैनेन्द्र के इस समाधान को प्रयोग की एक नई भूमि देता है। उस में स्त्री को व्यर्थ नहीं किया गया है, जो व्यर्थ और व्यतीत हो गया है वह पुरुष है। परन्तु इस व्यर्थता और व्यतीतता में ही उस की उच्चतर सांस्कारिता और सार्थकता भी निहित है। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में पुरुष आक्रामक है और पत्नी का पूर्व प्रेमी या नया प्रेमी बन कर घर को तोड़ना चाहता है परन्तु इस उपन्यास में अनीता की भूमिका ले कर स्त्री प्रेमी के जीवन से हट जाती है और अपने घर को बनाए रख कर भी उस के प्रेम को देह के ताप से वंचित रखना चाहती है। अनिता के निरन्तर प्रहार से जयंत को बचा कर जैनेन्द्र प्रेम के अतिमो रूप को चरितार्थता देते हैं और अपने उपन्यासों की समस्यामूलकता का आग्रह ले कर सामने आते हैं। प्रेमी जीवन और दाम्पत्य की सारी सम्भावनाओं को उन्हों ने गणित के सूत्रों की अनेक सम्भावनाओं के सदृश हल करना चाहा है और इसी लिए वह अतिचारी सीमाओं तक गए हैं और उन के समाधान ही विचित्र नहीं हैं उन का जीवन-चित्रण भी अमर्यादित और अस्वाभाविक बन गया है। उन के पात्र विस्फोटक बन गए हैं और उन की ऊर्जा हिस्टेरी विकर्तव्यता में बंध कर विमूढ़ता की मुद्रा बन गई है। यह स्पष्ट है कि अपने उपन्यासों में जैनेन्द्र विचार भी उभारते हैं और व्यथा भी, और उन की कथा विचारक उपन्यासकार की भाव-साधना बन गई है। उस की सामाजिक प्रतिष्ठा दार्शनिक ऊहापोह में खो गई है, परन्तु एक बार जैनेन्द्र की औपन्यासिकता के इस स्वरूप को स्वीकार करने के बाद उन से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रह जाती।

जैनेन्द्र का साहित्य संक्रान्तिकालीन साहित्य है। उस में मध्य वर्ग पहली बार अपने प्रति सचेतन और आत्मरत दिखाई देता है और अपनी मान्यताओं सम्बन्ध में प्रश्न उठाता है।

'परख' में वह प्रेमचन्द के साथ है—समाज का बचा कर भी व्यक्ति को

नहीं तोड़ते उसे आत्मबलिदानी बना कर, दैहिक प्रेम की भूमिका से ऊपर उठा कर उसे आत्मिक प्रेम के 'सुख महल' में पहुँचा देते हैं परन्तु 'सुनीता' में जहां एक ओर वह प्रति-आदर्शवादी बन गए हैं वहां प्रश्नमूलक हो कर हमें संकट में भी डाल गए हैं। उन्हों ने मध्य वर्ग के शिक्षित समाज को उस की मान्यताओं की कसौटी पर कसना चाहा है और कसावट में काली रेखा ही अधिक उभरी है। हिन्दू-समाज की मूल भित्ति है परिवार—जो अब दाम्पत्य में सिमट आया है, परन्तु इस दाम्पत्य में सचाई कितनी है? क्या वह पत्नी की बलि पर नहीं खड़ा है? क्या नारी का नारीत्व और मातृत्व भी वहां खंडित नहीं है? क्या वह भी मध्य वर्ग के पुरुष की अधिकार-लिप्सा की लीला-भूमि नहीं है? जब समाज टूट कर दो (पति-पत्नी) में रह गया है तब इस इकाई को भी गहरा क्यों न देखा जाए? यह जिज्ञासा ही जैनेन्द्र से 'सुनीता' 'त्यागपत्र' 'कल्याणी' 'सुखदा' और विवर्त' लिखवाती है। दाम्पत्य क्या देह का है? देह होने पर उस की सुरक्षा कहां है? क्या वह व्यक्तिगत है या सामाजिक? वह मोम पर टिका है या त्याग पर? उत्तर में सुनीता' है जिस में हम दाम्पत्य की निष्ठा से परिचित होते हैं और शिक्षित नारी में सनातन सतीत्व या उस के प्रति आस्थावान बनते हैं। साथ ही हम उससे बचना भी चाहते हैं क्योंकि हमारी नैतिकता देह को उघाड़ना नहीं चाहती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या श्रीकांत-सुनीता के दाम्पत्य में समाज के प्रति असहिष्णुता भी नहीं है? हरिप्रसन्न के पलायन से यदि श्रीकांत और सुनीता बचे तो इस से दाम्पत्य की महिमा क्या सचमुच बढ़ी? 'सुखदा' और विवर्त में पत्नी और पति टूट कर भी उदार बनते हैं सामाजिक होते हैं और अपने को बचाते नहीं। समाज के लिए व्यक्ति के त्याग का आदर्श ही इन उपन्यासों का प्राण है। सहने में ही सच्चा शौर्य है, मांगने में नहीं। व्यथा नारी में है कि वह पति से हटती जा रही है और पुरुष में भी है कि वह अपने प्रेमास्पद के प्रति उतना उदार नहीं है जितना होना चाहिए। सतीत्व को तलवार की धार की तरह पैना बना कर जैनेन्द्र उस से देह को एकदम काट देना चाहते हैं, परन्तु देह के साथ आत्मा भी उघड़ ही जाती है। नीति-अनीति के प्रश्न पर टिक कर जैनेन्द्र मध्यम वर्ग को समाज के आगे कटघरे में प्रस्तुत नहीं करते उसे नई संस्कृति के द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म चेतना के आगे अपराधी बना कर खड़ा करते हैं। 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में वह पति-परित्यक्ता नारी के सतीत्व के दावे को देह पर खंडित करा कर भी उस की आत्मिक दीप्ति को अक्षय बनाए रखते हैं और समाज को पग-पग पर चुनौती देते हैं कि वह अपनी पाप-पुण्य की मान्यताओं को बदले। चुनौती पतित्व को भी है कि वह धर्म-पत्नीत्व को नए सिरे से जाने

परन्तु 'त्यागपत्र' में पति परदे के पीछे है, अभियुक्त के रूप में समाज सामने है। पति से टूट कर नारी स्थितिहीन हो जाती है, यह सत्य मृणाल ने भोग कर जाना है। प्रेमचन्द सुमन से इस सत्य को बचा गए हैं, क्योंकि उन्हें आदर्शवाद का सहारा है, परन्तु जैनेन्द्र देह को असार्थक कर मृणाल को देवी बना कर भी समाज के मन पर चोट करते हैं। उनका पति आदर्शवाद बनता हुआ संसार है। 'कल्याणी' में पति की धन-लिप्सा पत्नी के पूर्व-प्रेम का भी शोषण करना चाहती है और वहां वह दुर्नीति है, वहां दाम्पत्य छलना मात्र है। इस प्रकार इन रचनाओं में प्रेम और विवाह के द्वन्द्व के भीतर से दाम्पत्य को अग्नि-परीक्षा में डाला गया है और जलते हुए समाज के लिए नए नैतिक मूल्यों के अन्वेषण का साहस किया गया है।

यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यास अनुभूत नहीं कल्पित और अनुमानित हैं। वे उन के विचारों के औपन्यासिक और प्रायोगिक संस्करण हैं। इसी से पात्र हम पर उतना ही खुलते हैं जितना जैनेन्द्र उन्हें खोलना चाहते हैं। अपने इन कथा-प्रयोगों में वे मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र की (विशेषतः फ्रायड की) नई उपलब्धियों को भी लेते हैं, परन्तु यह जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रतिभा की विशेषता है कि उन के पात्र हमें संवेदनीय लगते हैं और अबूझ रह कर भी हमारे निकट के बन जाते हैं। विवरण और वर्णन को त्याग कर केवल अन्तश्चेतना की भूमिका पर पात्रों को खड़ा कर जैनेन्द्र उन्हें गणित के प्रतीक जैसी सार्वभौमिकता दे देते हैं। वे विचारेषणा की मुद्रा बना कर हमारा हृदय जीत लेते हैं। विचार को व्यथा बनाने में ही जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला का महत्तम पर्व हुआ है। उन के साहित्य को हम मध्य वर्ग के शिक्षित मन की वैकल्पिक भूमिका दे कर ही नई सांस्कृतिक चेतना का अंग बना सकते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यास केवल रूपात्मक समीक्षा की पकड़ में नहीं आ सकते। वस्तु-संघटन, चरित्र-चित्रण, संवाद, भाषा-शैली, उद्देश्य ऐसा बंधा हुआ ढांचा उन के उपन्यासों को अधूरा भी नहीं खोलता। वे मूल्यगत हैं और व्यापकतम सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में ही सार्थक होते हैं, यद्यपि उन के प्रारम्भ रूपात्मक डायरीगत औपन्यास-गत और पत्र-पत्र शैलियों और संदर्भों का विस्तृत उपयोग मिलता है और वे पश्चिमी उपन्यास के अनुगामी शिल्प का आभास देते हैं। सच तो यह है कि वे बहुत कुछ निबन्धात्मक हैं और विकसित औपन्यासिक शिल्प तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के नए जीवन-मूल्यों को उभारने के लिए उपकरण मात्र हैं। उन में हमें जीवन-चिन्तक की मानवीय अन्तर्दृष्टि का वरदान मिला है। एक प्रकार से उन्हें मनोविश्लेषण-शास्त्र की समानान्तर उप

सम्मिलित कहा जा सकता है।

संक्रान्तिकालीन और ह्रासोन्मुख संस्कृति का वह विराट रूप जैनेन्द्र के उपन्यासों में संपुटित है जो वर्तमान कालिक संस्थितियों के भीतर से व्यक्ति और समाज की दुर्बलताओं की ओर उंगली उठाता है। उन के उपन्यासों का अध्ययन करते हुए हम समसामयिक मानस की भावेगवालक भूमिकाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकते हैं और इस के साथ ही परिवेशीय संदर्भ की प्रकृति की पूरी-पूरी जानकारी का निर्वाह कर पाते हैं (भारतीय मध्य वर्ग के विकास की ऐतिहासिक और धाराप्रवाहिक चेतना के भीतर से समसामयिक विरोधों को वाणी देने के लिए जैसी सतर्क प्रतिनिधित्व-व्यंजक और समर्थ भाषा शैली चाहिए, वह जैनेन्द्र के पास पर्याप्त है—नहीं उसे उन्हों ने ही गढ़ा है और इस प्रकार खड़ी बोली की सक्षमता को दूर तक फैलाया है। परिवर्तनशील संस्कृति का औपन्यासिक स्वरूप आलोचक के लिए अत्यन्त आकर्षक विषय बन जाता है। शिल्पगत वैलक्षण्य और आविष्कार के पीछे इस सांस्कृतिक सार्थकता को पकड़ना ही समीक्षक का कार्य है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में अवचेतनीय स्तर पर ऐसे संवेदनों को बुद्धि-गम्य बनाने का उपक्रम है जो शैली या शिल्प की व्यक्तिगत उपलब्धि मात्र नहीं कहे जा सकते वरन् जिन में सामसामयिक संस्कृति की स्थिति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।) इस सांस्कृतिक द्वन्द्व को जैनेन्द्र ने अनचाहे अनजाने ही उभार दिया है और वह बौद्धिक बनते हुए भी आत्मचेतन नहीं है। उन की कला के लिए यह कल्याणकर ही रहा है क्योंकि समस्याओं और परिणामों के सम्बन्ध में बौद्धिक जागरूकता रचना की वस्तुस्थिति और कलात्मक प्रभावमयता को खंडित नहीं करती। (जैनेन्द्र के उपन्यास मध्य वर्गीय संस्कृति की आज की स्थिति के बिम्ब-प्रतिबिम्ब चित्र हैं, उन में नई संस्कृति की ओर सक्रमण का कोई प्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं है) संक्रान्ति को पार कर लेने के बाद ही साहित्यिक पुनर्निर्माण का प्रश्न उठ सकता है। जैनेन्द्र यदि संक्रान्ति के बीच में डूबते उतराते रहते हैं तो वाञ्छित बौद्धिकता के इस युग में हम उन्हें कोई किनारा नहीं दिखा सकते। असक्षित रहने में ही उन की सामर्थ्य है।)

कहानीकार जैनेन्द्र और उन की वैचारिक पृष्ठभूमि

—मन्मथनाथ गुप्त

जैनेन्द्र की बहुत-सी कहानियां विश्व-साहित्य के स्तर की हैं इसे किसी प्रकार की संकीर्ण गुटबन्दी या धुन्धी का पक्षपात बतला नहीं सकता। बंगला के प्रसिद्ध लेखक 'साहब बीबी गुलाम' ख्याति के विमल मित्र ने जैनेन्द्र जी की एक कहानी 'चोर' का बहुत प्रशंसा की थी दुर्भाग्य से उनको जैनेन्द्र जी की केवल एक कहानी ही पढ़ने को मिली थी फिर भी उन्होंने निजी बातचीत में तथा सर्वत्र उस का बड़ी प्रशंसा के साथ जिक्र किया। यदि उन्होंने और कहानियां पढ़ी होतीं तो निश्चित है कि वह अवश्य और अधिक प्रशंसा करते।

जैनेन्द्र जी ने कई सौ कहानियां लिखी होंगी। यद्यपि यह संख्या काफी बड़ी है पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने बहुत अधिक कहानियां लिखी हैं। वह स्वयं इस बात को कहते हैं कि कहानी लिखने में वह भाषा को नहीं संवारते और न शिल्प को ही संवारते हैं फिर भी इस में सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र जी की एक निजी सुपरिचित शैली है जिस को देखते ही हिन्दी का पाठक अच्छी तरह पहचान लेता है। परसाई आदि ने कई व्यंग्य रचनाएं इसी आधार पर की हैं।

जैनेन्द्र जी यह मानते हैं कि आज के दिन कहानी सब से सशक्त माध्यम है। वह उपन्यास और कहानी का मुकाबला करते हुए कहते हैं कि उपन्यास बड़ी उपलब्धि है और प्रभाव भी उस का घना होता है। लेकिन समय की गति में तुरता का अनुभव करते हुए वह कहते हैं कि उपन्यास का कलेवर बोझिल पड़ सकता है इसलिए कहानी अधिक प्रभावोत्पादक है।

कैसे उन्होंने पहली कहानी लिखी इस सम्बन्ध में उन का वक्तव्य इस प्रकार है —

"एक बन्धु शामिल और उसी तरह के कामों से उखड़ कर बेकार हो गए और बेकारी में काम खोजते हुए दिल्ली आए। बड़ी कोशिश से उन को प्राइमरी स्कूल में मुदर्रिसी मिली। आदमी ऊंचे विचार के थे और कलाभिमुख थे। चौथे दर्जे तक का स्कूल और उन्होंने वहीं हाथ लिखी पत्रिका जारी की। बड़ी

सज-धज और संयम से उसे संवारते थे। उसी के लिए पहली दूसरी, तीसरी कहानी लिखी गई होगी। लिखते वक्त कहानी है यह भी नहीं मालूम होता था। चिट्ठी पाती की तौर जो मन में आया लिख भेजता था। पहली कहानी में शायद व्यंग्य के साथ उपदेश देने की मैं ने ठानी होगी। दो-एक पैराग्राफ के बाद एक नेता उस में अंग्रेजी में बोल पड़ते थे। जब अंग्रेजी की वक्तृता के दो-चार वाक्य लिखने पर पता चला कि वहाँ चीज जाने वाली है वहां पटसाल के बच्चे होंगे अंग्रेजी कौन समझेगा ? इसलिए उसे रोक लिया गया और वह पीछे 'देश प्रेम' के नाम से छपी। उस की जगह नये हाथ वह घटना लिख भेजी जो कुछ रोज पहले मेरे साथ घटी थी। उस के आगे भी कल्पना से कुछ जोड़-जाड़ दिया और वह 'फोटोग्राफी' बन गई। उसी हस्तलिखित पत्रिका 'ज्योति' के लिए 'खेल' और 'चोरी' बनीं। ये तीनों कहानियां पीछे दूसरी पत्रिकाओं में छपीं। लेकिन यह सब लिखते वक्त प्रेरणा का प्रश्न ही न हुआ था। बन्धु के चिट्ठी का उत्तर जरूरी होता था और मैं मनमाना लिख भेजता था। क्या पता था कि ये रचनाएं कहानी कहलाएंगी और मुझ से एक दिन जवाब तक तलब होगा।"

वह यह नहीं मानते कि उन्हों ने पहली कहानी लिखी तब उन के सामने कोई व्यवस्था थी और आगे भी उन की कोई व्यवस्था रही। उन के शब्दों में —

"लिखने की कोई विवशता मैं अपने जीवन में नहीं देखता। बरसों-बरस गुजर गए हैं और मैं ने एक हरफ नहीं लिखा है। अन्तःप्रेरणा की कोई विवशता होती तो यह हरामखोरी मुझ से नहीं हो सकती थी। अभी देखिए कि लिखने के सिवाए कोई मैंने काम का काम नहीं किया है लेकिन जितना लिखा है उतना तो कोई प्रामाणिक कार्यकर्ता तीन साल में लिख फेंक सकता था। नहीं, वैसी कोई भीतरी बेबसी मुझ में नहीं थी। मुझ में न कुछ वक्तव्य है न सन्देश है। जैसे बोल लेता हूं वैसे ही लिख भी जाता हूं। बहुत अधिक आयास प्रयास की मुझे आदत नहीं है। न ऐसा कुछ मेरे पास मालूम होता है कि जिस पर आयास खर्च किया जाए। पाठकों और आलोचकों की ओर से जो कभी सुन पड़ता है उस को अगर भुला दिया जाए तो मैं अपने बारे में किसी भूल में नहीं हूं। अर्थात् मैं जानता हूं कि मैं नहीं जानता।"

जैनेन्द्र जी मानते हैं कि सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक तत्त्वों से उन की रचना का कोई विशेष दिखाने वाला सम्बन्ध नहीं होता फिर भी कलाकार की हैसियत से उन पर एक मजबूरी थी यह उन के वक्तव्य से प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं —

"इतना जानता हूं कि जब मेरा लिखना इत्तफ़ाक़ शुरू हुआ तब मैं बहुत बेहाल और बदहाल था यहां तक कि मरने की बात सोचा करता था। ऐसे में कोरा तत्त्व सिद्धान्त काम नहीं दे सकता, न प्रिय हो सकता है। हर तत्त्व-वाद को मानो संवेदन की कसौटी पर उतरना और अपने को खरा साबित करना होता है। सब से प्रथम तथ्य और मूल तत्त्व है दुख—इस बौद्ध कथन का भी शायद यही सार है। इसी अनिवार्यता में से विचार को मानो कहानी बनना पड़ गया। इस से अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।"

बहुत लोगों के निकट जैनेन्द्र जी गान्धीवादी करके मशहूर हैं पर यह शायद उन का वह रूप है जो कलाकार से अलग है इसलिए उन का कहना है—'लेकिन जिस को गांधीवाद कहते हैं उस का राई रत्ती भी बोझ मैं ने अपने दिमाग पर अनुभव नहीं किया है।"

इधर उन्हों ने जो कहानियां लिखी हैं वे उतनी जन-प्रिय नहीं हो सकीं। न तो वे नई कहानी में आती हैं न पुरानी कहानियों में। किसी प्रकार के विचार या विवाद से भी उन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनन्त काल से यह तर्क चला आ रहा है कि साहित्यकार या कलाकार का व्यक्तित्व उस की कृतियों से अलग अथवा भिन्न-मुखी हो सकता है या नहीं? (जैनेन्द्र पर कलम उठाते ही मेरे सामने यह प्रश्न फौरन उठ कर खड़ा हो जाता है, क्योंकि जैनेन्द्र का व्यक्तित्व काफ़ी जटिल है, जब कि उन का साहित्यिक—यहां उन के उपन्यासों तथा कहानियों से मतलब है—क़तई जटिल नहीं है। हां 'जयवर्धन' और इधर की कुछ कहानियों को नहीं गिन रहा हूं जिन में चिन्तक जैनेन्द्र जबर्दस्ती अपने सृजनात्मक साहित्य पर सवारी गांठने की चेष्टा करता है, बल्कि उस कार्य में बड़ी हद तक सफल भी हो जाता है।)

विश्व-साहित्य के लिए यह बहुत ही अच्छा रहा कि चिन्तक तालस्ताय ने अपने उपन्यासों पर छा जाने की चेष्टा नहीं की, उन की कुछ कहानियां हैं जिन पर चिन्तक तालस्ताय एक हद तक छाए हुए हैं, पर उन में भी वह इतना प्रवेश नहीं कर पाए जैसा कि कहानी वाला ऊंट तम्बू के अन्दर सिर डालते डालते सारा शरीर ही घुसा ले गया था और उस के असली अधिवासी को तम्बू के बाहर खड़ा कर दिया था। ऑस्कर वाइल्ड के व्यक्तित्व पर हर साल कई पुस्तकें नई रोशनी डालते हुए निकलती हैं। पर उन का साहित्य अब उतना नहीं पढ़ा जाता। पर जैनेन्द्र का व्यक्तित्व उन के साहित्य की ओट में चलता है हां उन के साहित्य को जो चीज़ पूरी तरह दबोचने का डर दिखा रही है, वह है उन का दर्शन।

पर क्या जैनेन्द्र कोई दार्शनिक हैं ? उन की जो सब से ताजी पुस्तक 'समय और हम' छपी है उसे न पढ़ कर राय कायम करने वाले पाठकों पर (यदि मैं उन्हें पाठक कह सकूं) यही रोब गालिब होता है । इस प्रश्न के निर्णय में मैं जैनेन्द्र की विवेचन-पद्धति का ही अनुसरण करूंगा। किसी ने जैनेन्द्र जी से यह प्रश्न किया था—"रवीन्द्र के दार्शनिक विचारों पर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने 'फिलास्फी आफ रवीन्द्रनाथ' पुस्तक लिखी है। इसी तरह कई दूसरे आलोचक और विद्वान भी उन्हें दार्शनिक मानते हैं क्या उन का कोई विचार-दर्शन ऐसा था जिस के आधार पर उन्हें मूलतः दार्शनिक कहा जा सके ?"

इस पर जैनेन्द्र जी ने यह कहा था— 'नहीं वह कवि थे । दर्शन था यदि उन का तो कवि का था।' यहां तक तो स्पष्ट है, पर आगे जैनेन्द्रीय ढंग से सुर का विस्तार करते हुए या कुछ लोग कहेंगे कि सुर का दमन करते हुए उन्होंने कहा था— 'पुष्ट दर्शन के लिए निषेध आवश्यक है । निषेध उन में पर्याप्त से कम है। देखिए उन के चेहरे को वस्त्राच्छादन को रहन-सहन को मानो सब को रहने देने और समाए रखने की उदारता है। कपड़े परिमाण से अधिक ढीले और आवश्यकता की मात्रा से काफी अधिक । साथ उन के गांधी की याद कीजिए और कल्पना में लाने की कोशिश कीजिए उन रवीन्द्रनाथ को जिन का सिर घुटा हो और घुटने खुले हों। कल्पना पछाड़ खा रहेगी और बढ़ न सकेगी। गांधी दार्शनिक नहीं थे महात्मा थे । यों समझिये कि कवि और महात्मा के अधबीच दार्शनिक होता है ।

इसलिए यदि मैं 'समय और हम' के लेखक होने पर भी जैनेन्द्र को दार्शनिक न मानूं तो कोई बहुत ज्यादती नहीं करूंगा । रवीन्द्र दार्शनिक नहीं थे जैनेन्द्र भी नहीं हैं।

जैनेन्द्र कविता और महात्मापन के अधबीच होने का दावा नहीं कर सकते इसलिए *वह अपनी परिभाषा के अनुसार भी दार्शनिक नहीं कहला सकते ।*

जैनेन्द्र महात्मापन और कवित्व के अधबीच नहीं हैं, भले ही कुछ हद तक मंझधार में हों। महात्मा वह होना नहीं चाहते—कम से कम उपन्यास-कहानियों में नहीं। उन की नायिकाएं बारबार नंगी देखी जाती हैं। मजता है कि वह एक तरफ 'समय और हम' लिख कर जहां दार्शनिकों में विलय पाना चाहते हैं वहां दूसरी तरफ वह बड़े जोरों से अपने जीवन के तीसरे पहर में (भगवान करे जैनेन्द्र शतजीवी हों) यथार्थवादी आधुनिकों में अपना नाम सिमोन दोउवी के हरफों में लिखाना चाहते हैं तभी उन्होंने राजधानी के एक अंग्रेजी दैनिक के संवाददाता से यह कह कर सनसनी पैदा कर दी थी कि वह अगले उपन्यास में

एक पढ़ी-लिखी तरुणी को अपनी नायिका बनाना चाहेंगे जो वस्तुस्थिति को पूरा न समझती हो। उस के बाद काफ़ी समय निकल गया पर वह उपन्यास लिखा नहीं गया। पर उन की ताज़ी कहानियों में यह प्रवृत्ति अवश्य है।

(फिर भी जो असली जैनेन्द्र हैं वह इन सब से परे हैं वह बहुत ही एकाकी हैं क्योंकि उनके हृदय में पीड़ा ही पीड़ा है। मानवता को देवत्व की ओर न ले जा पाने की पीड़ा है। एकाएक वह आप से बात करते-करते स्वर्ण-मृग के पीछे हो जाते हैं फिर सम्भव है कि घंटों यहाँ तक कि रात-भर, उन का पता न लगे और फिर वह झेंप कर आप के पास आएं क्योंकि स्वर्ण-मृग तो अगिया बैताल था। वह हाथ नहीं लगा या लगा तो बहुत थोड़ा। एकाकीत्व दूर नहीं हुआ। जैनेन्द्र जैसे एकाकी थे वैसे ही रह गए। ऐसे ही घूमते-घामते उन के मन में हवा से उड़ कर कोई बीज आ जाता है तब वह कोई कहानी या उपन्यास लिख जाते हैं। पर अब कहानी के बीज उड़ कर कम आते हैं, प्रवचन की धूल अधिक आती है। पर इस में सन्देह नहीं कि जो कुछ भी—विशेष कर कहानी के क्षेत्र में—जैनेन्द्र ने दिया है, उस से हिन्दी-साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई है।)

जैनेन्द्र की कहानियों में बौद्धिक और दार्शनिक तत्व

—डाक्टर रामचरण महेन्द्र

प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों में श्री जैनेन्द्र कुमार विशेष उल्लेखनीय और साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त कहानीकार हैं जिन्होंने, यथेष्ट लोक-प्रियता प्राप्त की है तथा जो विशेष अध्ययन की वस्तु माने गए हैं।

जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक का सौन्दर्य नहीं है। वह साधारण स्तर के पाठकों का ऊपरी मनोरंजन मात्र नहीं करते। केवल दिलचस्पी मात्र के लिए उन्होंने कहानियां नहीं लिखी हैं। वे मूलत एक विचारक हैं। उन में मौलिक विचारों तथा नवीन रीति से चिन्तन का महत्त्व है। प्रत्येक रचना में किसी अनु-भूति की कोई मार्मिक चोट होती है। उनकी दृष्टि मौलिक चिन्तन की गहराई से निकलती है। वह विचारपूर्ण है।

एक आलोचक के शब्दों में "मानव-जीवन और मानव मन को ले कर वह विचारते हैं या उन के वैचारिक भंवर में जीवन और मन फंसाते हैं—यह कहना कठिन है क्योंकि जीवन में घटनाएं घटती रहती हैं और मन में तदनुरूप अल्प या अधिक परिमाण में उनकी प्रतिक्रियाएं भी होती रहती हैं, किन्तु जैनेन्द्र के विचार प्रवाह में घटनाओं का आघात उतना तीव्र नहीं है जितना मन की प्रति क्रियाओं का। इसका मुख्य कारण यह है कि घटनाओं के पहले भी उन का विचारक्रम जारी रहता है और पीछे भी। हां घटनाओं के सम्पर्क से चिन्तन की गति कुछ तीव्र हो जाती है। जैनेन्द्र के पात्र उन के विचार प्रसूत लगते हैं। पात्रों की सृष्टि के बाद उन की चरित्र-विचित्रता और विशेषता के कारण कोई विचार सूत्र निकलता हो—इस का बहुत कम प्रमाण होता है।"

बौद्धिक और दार्शनिक तत्वों की प्रधानता

जैनेन्द्र की कहानियों में बौद्धिक और दार्शनिक तत्वों की प्रधानता है।

मनोविज्ञान उन की आधार-शिला है। इन चिन्तन और दार्शनिक तत्वों पर ही जैनेन्द्र कहानियां लिखते हैं। यही कारण है कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में जैनेन्द्र जी जब पहली बार आए थे तब एक क्रान्तिकारी के रूप में उन का स्वागत हुआ था। यह नूतन दिशा की ओर एक प्रयोग था। जैनेन्द्र जी ने अपने दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचय 'एक रात' की भूमिका में पृष्ठ चार पर इन शब्दों में दिया है—"मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो मात्र लौकिक हो जो सम्पूर्णता से शारीरिक धरातल पर ही रहता हो। सबके भीतर हृदय है, जो सपने देखता सब के भीतर आत्मा है जो जागती रहती है, जिसे शस्त्र छूता नहीं है, आग जलाती नहीं है। सब के भीतर वह है, जो अलौकिक है। मैं वह स्थल नहीं जानता जहां अलौकिक न हो, जहां वह कम है, जहां परमात्मा का निवास नहीं है? इसलिए आलोचक से मैं कहता हूं कि जो अलौकिक है, यह भी कहानी तुम्हारी ही है तुम से अलग नहीं है। रोज के जीवन में काम आने वाली तुम्हारी जानी-पहचानी चीजों का और व्यक्तियों का हवाला नहीं है तो क्या, उन कहानियों में तो वह अलौकिक है, जो तुम्हारे भीतर अधिक तहों में बैठा है। जो और भी घनिष्ठ और नित्य रूप में तुम्हारा अपना है।"

उपर्युक्त उदाहरण से जैनेन्द्र के समग्र साहित्य की मूल प्रेरणा के आधार-भूत तत्वों पर प्रकाश पड़ता है। उन का व्यक्तित्व गहन गम्भीर दार्शनिकों-जैसा है। कहानी के माध्यम में भी उन की मनोवैज्ञानिकता और दार्शनिकता के अनेक तत्व पूरी तरह फैले रहते हैं। धर्म, नीति और ज्ञान के निष्कर्ष उन की कहानियों से अनायास ही निकाले जा सकते हैं। कहीं-कहीं तो उन का यह दार्शनिक रूप इतना स्पष्ट हो गया है कि मनोरंजकता और रोचकता तक को हानि पहुंची है। प्रोफेसर प्रेमचन्द के शब्दों में यह कहना उचित ही है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से जैनेन्द्र पर आध्यात्मवादी रंग अधिक चढ़ा हुआ है जब कि अज्ञेय जी पर फ्रायड का। इसी से एक ने जीवन को धर्म के आलोक में देखा है दूसरे ने काम के दर्पण में, एक ने आत्मा की भूख को लिया है, दूसरे ने शरीर की तृष्णा को।

जैनेन्द्र-स्कूल के कहानीकारों ने नारी को भी उस की आन्तरिक समस्याओं के बीच से उठाया है। 'प्रसाद' ने नारी के भव्य और आदर्श रूप को प्रस्तुत किया तो इन्होंने उस के अभाव-ग्रस्त अपीड़ित अन्तर को। भारतीय रूढ़िग्रस्त परम्पराओं की शृंखला से जकड़ी हुई नारी की आत्मा उन में कराह उठी है पर जहां अज्ञेय भारतीय नारी के विद्रोही रूप को देखना चाहते हैं, वहां जैनेन्द्र केवल सहानुभूति के अंचल से उसके आंसू भर पोंछना चाहते हैं। भगवतीचरण वर्मा नारी के परवश रूप को ही अधिक प्रस्तुत कर सके हैं। अपनी कहानियों में जहां भगवती

वाद चिन्तन-प्रसूत चमत्कार अधिक हैं वहां अज्ञेय चिन्तनशील अहंवादी तथा जैनेन्द्रकुमार चिन्तन-प्रधान भावुक हैं।

अपनी चिन्तनशील भावुकता के कारण ही जैनेन्द्र जन-साधारण तक उतने व्यापक रूप में नहीं पहुंच पाए जितने कि प्रेमचन्द। विचार-प्रधानता के कारण जैनेन्द्र किसी शिल्प-विधान की चिन्ता नहीं कर सके पर उन की शिल्पहीनता ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा अपनापन है, उन की कलाहीनता ही सब से बड़ी कला है। मनोरंजन नहीं विचारों का उत्प्रेरण ही उन का सब से बड़ा लक्ष्य है।

चरित्र-चित्रण की गहराई और विचार-प्रधानता जैनेन्द्र की कहानियों की दो प्रमुख विशेषताएं हैं। वे अपनी कहानी के ढांचे में मौलिक विचार भर देते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कुछ कहानियां ले लीजिए। 'तत्सत' 'वह बेचारा' 'मान सरोवर' 'नीलम देश की राजकन्या' आदि कहानियों में सर्वत्र विचार बोझिलता है। प्रच्छन्न रूप से इन कहानियों में वह एक दार्शनिक के रूप में उभर कर आए हैं। इसी प्रकार 'युवक' 'भाभी' 'ब्याह' 'विस्मृति' 'परावर्तन' 'सम्बोधन' इत्यादि प्रणय तथा विवाह विषयों की कहानियां होते हुए भी मौलिक दृष्टिकोण तथा तात्विक गहराई में अपूर्व हैं। ये रचनाएं चरित्र और वातावरण के मेल से पाठक पर एक सफल विचारात्मक निबन्ध का-सा अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं।

(उन के चरित्रों की एक विशेषता है उन की अहंवादिता। जैनेन्द्र स्वयं एक अहंवादी कलाकार हैं। इसलिए उन की यह चारित्रिक विशेषता उन के चरित्रों में जहां-तहां मिलती है। अनेक चरित्रों में अहंवादिता इतने चरम रूप में आती है कि पेशेवर औरतें भी जो रूप-यौवन की खुली दुकान सजाती हैं, व्यक्ति विशेष की मांग के प्रति इतना सबल प्रतिरोध करती हैं कि पाठक सन्न रह जाता है।

(जैनेन्द्र की कला का उद्देश्य क्या है? जीवन को बदलने की प्रेरणा उन के पास नहीं है। 'कला-ईश्वर के लिए' यह उन का नारा है। उनका उपन्यास 'सुखदा' समग्र आदर्श की ओर एक सशक्त संकेत है। जीवन और जगत की दार्शनिक समस्याओं पर सहज और मौलिक विवेचन उन्हों ने किया है। दिन रात के जीवन और समाज में उठने वाले गूढ़-गहन प्रश्नों का जिस कुशलता से उन्हों ने समाधान किया है वह देखते ही बनता है। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का निदान अस्पष्ट और रहस्यमय-सा हो गया है।

मनस्तत्व विश्लेषण प्रधान कहानियों के प्रथम लेखक वे ही हैं। उन्हों ने चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान का सफल प्रयोग किया है। फ्रायड और एडलर के यौन मनोविज्ञान और मानसोपचार के तत्वों को ले कर वह कहीं-कहीं खिलवाड़-सा

करते प्रतीत होते हैं। वहां वे सतह पर ही रह जाते हैं। साधु की हठ' 'कम्पार', 'चलित चित्त' 'वह अनुभव' इत्यादि उन की इस प्रकार की मौलिक कहानियां हैं। इन में यौन जीवन का भी चित्रण है। उन की कुछ कहानियां प्रतीक-शैली में लिखी गई हैं जैसे 'तत्सत', 'वह बेचारा', 'लाल सरोवर' इत्यादि। इन में उन का जीवन का अनुभव स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन विचार-रस पूरे सौष्ठव पर पाया जाता है। उनका कथा-साहित्य उदात्त मानवीय सत्यों से परिपूर्ण है।

बाबू चिन्तन-प्रसूत व्यंग्यकार अधिक हैं वहां प्रत्येक चिन्तनशील अहंवादी तथा जैनेन्द्रकुमार चिन्तन-प्रधान भावुक हैं।

अपनी चिन्तनशील भावुकता के कारण ही जैनेन्द्र जन-साधारण तक उतने व्यापक रूप में नहीं पहुंच पाए जितने कि प्रेमचन्द। विचार-प्रधानता के कारण जैनेन्द्र किसी शिल्प विधान की चिन्ता नहीं कर सके पर उन की शिल्पहीनता ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा अपनापन है उन की कलाहीनता ही सब से बड़ी कला है। मनोरंजन नहीं विचारों का उत्प्रेरण ही उन का सब से बड़ा लक्ष्य है।

चरित्र चित्रण की गहराई और विचार-प्रधानता जैनेन्द्र की कहानियों की दो प्रमुख विशेषताएं हैं। वे अपनी कहानी के ढांचे में मौलिक विचार भर देते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कुछ कहानियां ले लीजिए। 'तत्सत' 'वह बेचारा' 'नाम सरोवर' 'नीलम देश की राजकन्या' आदि कहानियों में सर्वत्र विचार बोझिलता है। अप्रत्यक्ष रूप से इन कहानियों में वह एक दार्शनिक के रूप में उभर कर आए हैं। इसी प्रकार 'पुत्र', 'भाभी' 'ब्याह' 'विस्मृति' 'परावर्तन' 'सम्बोधन' इत्यादि प्रणय तथा विवाह विषयों की कहानियां होते हुए भी मौलिक दृष्टिकोण तथा तात्त्विक गहराई में अपूर्व हैं। ये रचनाएं चरित्र और वातावरण के मेल से पाठक पर एक सफल विचारात्मक निबन्ध का-सा अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं।

(*उन के चरित्रों की एक विशेषता है उन की अहंवादिता।* जैनेन्द्र स्वयं एक अहंवादी कलाकार हैं। इसलिए उन की यह चारित्रिक विशेषता उन के चरित्रों में जहां-तहां मिलती है। अनेक चरित्रों में अहंवादिता इतने अडिग रूप में आती है कि पेशेवर औरतें भी जो रूप-यौवन की खुली दुकान सजाती हैं, व्यक्ति विशेष की मांग के प्रति इतना सबल प्रतिरोध करती हैं कि पाठक सन्न रह जाता है।

(जैनेन्द्र की कला का उद्देश्य क्या है? जीवन को बदलने की प्रेरणा उन के पास नहीं है। 'कला-ईश्वर के लिए' यह उन का नारा है। उनका उपन्यास 'सुखदा' समग्र आदर्श की ओर एक सशक्त संकेत है। जीवन और जगत की दार्शनिक समस्याओं पर सूक्ष्म और मौलिक विवेचन उन्होंने किया है। दिन रात के जीवन और समाज में उठने वाले गूढ़-गहन प्रश्नों का जिस कुशलता से उन्होंने समाधान किया है वह देखते ही बनता है। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का निदान अस्पष्ट और रहस्यमय-सा हो गया है।

वस्तुतः विश्लेषण प्रधान कहानियों के प्रथम लेखक वे ही हैं। उन्होंने चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान का सफल प्रयोग किया है। फ्रायड और एडलर के यौन मनोविज्ञान और मानसोपचार के तत्त्वों को ले कर वह कहीं-कहीं विसवाद-सा

करते प्रतीत होते हैं। वहां वे सतह पर ही रह जाते हैं। 'साधु की हठ' 'कप्तान', 'असित चित्त' 'वह अनुभव' इत्यादि उन की इस प्रकार की मौलिक कहानियां हैं। इन में यौन जीवन का भी चित्रण है। उन की कुछ कहानियां प्रतीक-शैली में लिखी गई हैं जैसे 'तत्सत', 'वह बेचारा', 'लाल सरोवर' इत्यादि। इन में उन का जीवन का अनुभव स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन विचार-रस पूरे सौष्ठव पर पाया जाता है। उनका कथा-साहित्य उदात्त मानवीय सत्यों से परिपूर्ण है।

'समय और हम'

जीवन की विविध समस्याओं के प्रति एक साहित्यकार और भारतीय का दृष्टिकोण

—श्री मोरारजी देसाई

'समय और हम' ग्रन्थ हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के आत्मचिन्तन का फल है, इसमें उन्होंने मानव-ज्ञान और मानव-परिस्थिति से सम्बन्धित एक या दो नहीं पूरे चार सौ पचास प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। इतने विस्तार और इतनी बारीकी से जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण निर्धारित करना बड़े साहस का काम है और खतरे से खाली नहीं। लेकिन लेखक ने खतरे की परवाह नहीं की है। प्रश्न चाहे आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध रखता हो या कश्मीर में भारतीय सेनाएँ भेजने के औचित्य से मेस्मरिज्म से या साम्यवाद से उन के पास सब के लिए उत्तर है। इस प्रकार उन्होंने अधिकार पूर्वक जीव विज्ञान, अर्थ-शास्त्र राजनीति दर्शन मनोविज्ञान समाज-शास्त्र शिक्षा आदि विषयों की गुत्थियों पर वक्तव्य दिए हैं, और अपने प्रश्नकर्ताओं की शंकाओं का स्पष्ट और सुन्दर भाषा में समाधान करने का पूरा प्रयत्न किया है।

इन वक्तव्यों को जैसे का तैसा स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यह ग्रन्थ है जीवन की विविध समस्याओं के प्रति एक साहित्यकार का और एक भारतीय का दृष्टिकोण और यह दृष्टिकोण है जीवन में अमन निष्ठा और दायित्व का मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रेम और सौहार्द का। संसार और मानव-जीवन की समस्याओं पर यह उन मूल्यों के प्रयोग का प्रयास है जिन के लिए गांधी जी जिये और जिन के लिए उन्होंने कार्य किया। और यह प्रयास स्तुत्य है।

जैनेन्द्र की अन्तर्दृष्टि में 'समय और हम'

—डा० विजयेन्द्र स्नातक

[१]

एक सीमित काल खण्ड में जीते हुए भी हम काल की व्यापक समग्रता से सर्वथा असम्पृक्त तथा शाश्वत चेतना से विलग नहीं रह सकते। जो शंका समस्याएँ आज हमें सभ्रम बनाती हैं त्रैकालिक सत्य से सम्भूत होने के कारण अतीत अनागत और वर्तमान के भेद को चीर कर सदा इसी प्रकार प्रश्नों को जन्म देती रही हैं। हम समाधान के आकांक्षी रहे हैं और कौन कह सकता है कि आने वाले कल में वे ही प्रश्न हमें आकुल नहीं करेंगे जो आज हमारे अर्जित ज्ञान एवं विवेक को चुनौती दे रहे हैं। जैनेन्द्र ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से ऐसे ही चिरन्तन प्रश्नों के आभ्यन्तर में प्रवेश किया है तथा व्यक्ति-चेतना एवं काल खण्ड से ऊपर उठ कर उनका विवेक सम्मत समाधान ढूंढने का प्रयास किया है। 'समय और हम'[1] शीर्षक केवल सम-सामयिकता का ही सूचक नहीं है

१—'समय और हम', ले० जैनेन्द्रकुमार, प्रकाशक पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली मूल्य बीस रुपये। (प्रथम संस्करण मुद्रण विषय और रूप-सज्जा)

टिप्पणी—'समय और हम' साढ़े चार सौ पृष्ठों का विशाल ग्रन्थ है जिस में साढ़े चार सौ पद-गम्भीर प्रश्नों के उत्तर संकलित किए गए हैं। प्रश्न कर्ता हैं श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त और समाधाता हैं श्री जैनेन्द्रकुमार। दादा धर्माधिकारी ने ग्रन्थ की प्रशस्ति लिखी है। उन के मत में जैनेन्द्र जी बिना प्रयोजन के नहीं लिखते, परन्तु प्रयोजन उन के लालित्य का सहोदर है। वाणी को गौरव भाव से प्रयोजन और लालित्य की देन बनी रहती है। उनकी अभिव्यक्ति के सारे मौक्तिक कौस्तुभ ही हैं, शायद ही कोई अतिरिक्त या व्यर्थ शब्द होता है। उनकी प्रतिभा में उनकी शैली ओज बरसाती है। परिणाम बहुत मनोज्ञ होता है। जैनेन्द्र जी कोई मत प्रचारक नहीं हैं। अपनी बात का प्रतिपादन करने के लिए वे युक्तियों का व्यूह नहीं रचते, क्यों कि उनका अपना कोई पक्ष नहीं है इस लिए उन के निरूपण में बुद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ चित्त का प्रसाद और रौशनी की सहजता होती है।

वरन् मानवात्मा के शाश्वत प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान करने वाला अध्ययनीय एवं विवेचनीय ग्रन्थ है। विशाल ग्रन्थ में प्रश्नोत्तरों का ऐसा जाल फैला हुआ है कि मेरे सदृश अति सामान्य योग्यता वाले पाठक को उस के तात्त्विक धरातल को पकड़ पाना कठिन हो जाता है। प्रश्न कर्ता के मन में मूल प्रश्न एक रहता है किन्तु समाधाता जैनेन्द्र उसे शाखा-प्रशाखा में फैला कर पूरा वट-वृक्ष बना देते हैं।

मैं अपनी बात कहां से शुरू करूं यही मेरी कठिनाई है। प्रश्नों के अनुक्रम का अनुसरण मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। साढ़े चार सौ प्रश्नों का उत्तर जैनेन्द्र के बूते की ही बात हो सकती है, साधारण पाठक तो शायद उन्हें पढ़ने का भी धैर्य न जुटा सकेगा। हां मैं कुछ विवादास्पद प्रश्नों को विचार के लिए प्रस्तुत करना चाहूंगा जिनके समाधान में जैनेन्द्र का विचारक अपने उत्कर्ष पर लक्षित होता है। किन्तु उन प्रश्नों को प्रस्तुत करने से पहले मैं दो चार शब्द पुस्तक की शैली और स्वरूप के बारे में कहना चाहता हूं। यह विषयान्तर है किन्तु ग्रन्थ की गरिमा के उद्घाटन में इसे अग्राह्य नहीं समझा जाना चाहिए।

प्रश्नकर्ता श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त के मत में जैनेन्द्र जी मूलतः विचारक हैं। उन के कथा-साहित्य के मूल में भी विचार का बीज गर्भित रहता है। कथा के पात्र व्याज मात्र रहते हैं। पात्रों का चरित्र-विकास प्रायः विचार के साथ ही होता है। मर्म-स्पर्शी गूढ़-गंभीर विचारों की व्यंजना करने के कारण जैनेन्द्र की शैली में एक प्रकार की विलक्षणता दृष्टि गत होती है जो अन्य किसी कथा लेखक में नहीं मिलती। प्रश्नकर्ता के मत में तो जैनेन्द्र उन सत्यों की प्रेरणा से लिखते हैं जिन का साक्षात्कार उन्होंने अपनी बुद्धि से नहीं—सम्बुद्धि से—अन्तर के गहनतम में किया है। प्रश्न-कर्ता की श्रद्धा समवेत आस्था को मैं ठेस पहुंचाए बिना यह कहना चाहता हूं कि अनाविल सत्य दृष्टि समन्वित हो कर अथवा सत्य के साक्षात्कार से अनुप्राणित हो कर ही जैनेन्द्र ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया है ऐसा मानने को मेरा मन तैयार नहीं होता। अनुभूत और अभीप्सा से अलग निरपेक्ष वस्तु सत्य की प्राप्ति होती है, यह कहना भी ईश्वर को छूने का यत्न है। प्रतिपादन का मार्दव शैली का गुण मानना चाहिए, उस के साथ सत्य

'समय और हम' चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड अध्यात्म अर्थात् ईश्वर आत्मा आदि सत्र अध्यायों में विभाजित है। द्वितीय खण्ड परिवार की विचारधारा से सम्बद्ध है। इस में नौ अध्याय हैं। तृतीय खण्ड भारत की समस्याओं पर प्रकाश डालता है, इस में १४ अध्याय हैं। चतुर्थ खण्ड अन्यतम से सम्बन्ध रखता है, इस में ११ अध्याय हैं। यही ग्रन्थ का बाह्य परिचय है।

का साक्षात् दर्शन भी अनायास उपलब्ध होता हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन प्रश्नों का समाधान करने में जैनेन्द्र का रुख सर्वथा शास्त्र पराङ्मुख रहा है ऐसा भी मैं स्वीकार करने को उद्यत नहीं। जैनेन्द्र शास्त्रवेत्ता, एकेडेमेशियन, नहीं हैं, यह बात उन के स्वतःस्फूर्त चिन्तन को आगे लाने के लिए अक्सर कही जाती है किन्तु भारतीय तत्त्व चिन्ता से उन का गहरा परिचय है और उस के मन्तव्यों को उन्हों ने अपनी विचारणा में पिरोया भी है। पश्चिमी दर्शन की अद्यतन मान्यताओं के संकेत उन के उत्तरों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। अतः उन्हें ऋषि-मुनि के आसन पर न बिठा कर विवेकशील विचारक एवं चिन्तक ही मानना चाहिए। हाँ शास्त्र-शासन से जैनेन्द्र बचकर सोचते हैं लिखते और बोलते हैं इस में कोई सन्देह नहीं है। यह उन का मौलिक गुण है।

तीसरी बात मुझे यह कहनी है कि जैनेन्द्र अपने समाधान में वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ ही अधिक रहे हैं। उन्हों ने तर्क युक्ति, प्रमाण का आश्रय न लेकर बुद्धि-विवेक पूर्ण चिन्तन का आश्रय लिया है। अतः उन के उत्तरों को यथावत् स्वीकार करने की सहज प्रेरणा नहीं होती। जैनेन्द्र के उत्तर शैली में सहज होने पर भी प्रतिपाद्य के धरातल पर दुरूह और कठिन लगते हैं। हाँ बौद्धिक धरातल पर बहस और मुक्ता-शैली के लिए मैं उन में बड़ी गुंजाइश पाता हूँ मुझे अनेक उत्तरों से जूझने की इच्छा हुई है और लगा है कि जैनेन्द्र के समक्ष प्रश्न आन्दोलित तो हुआ है किन्तु परास्त नहीं हो सका। अपने चिन्तन या मनन से जैनेन्द्र अन्तिम सत्य को कीलित कर पाने में शायद पूरी तरह समर्थ नहीं हुए हैं।

चौथी बात यह है कि जैनेन्द्र ने 'समय और हम' के प्रश्नों को बड़ी सहजता से ग्रहण किया है। प्रश्न चुनौती नहीं होता—जिज्ञासा का ही सम्य रूप है। प्रश्न उत्तरदाता के प्रति मात्र उद्दीपक है समाधाता के मर्म को छूने और कुरेदने का साधन मात्र है। यदि प्रश्न में परिमित उद्दीपन को आवेश और आक्षेप से ग्रहण किया जाय तो प्रश्न खो जाता है और समाधाता बक्ता मात्र रह जाता है। जैनेन्द्र की प्रखर बुद्धि का वैभव तो इन प्रश्नोत्तरों में है ही किन्तु इन में जो तत्त्व अपनी पूर्ण समृद्धि में मिलता है वह है विचार-विश्लेषण में तटस्थता। तटस्थ रह कर प्रश्न के आभ्यन्तर में प्रवेश करने की जैनेन्द्र की अपनी मोहक शैली है—समाधाता पक्षधर न बने और 'उत्तर पक्ष' की स्थापना कर सके यह बड़ी बात है। प्रश्न को सुलझाने की शैली भी जैनेन्द्र की सर्वथा मौलिक है। वे उलझन से विचलित नहीं होते उलझन के पेच वे स्वयं पैदा करते हैं, फिर

वरन् मानवात्मा के शाश्वत प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान करने वाला अध्ययनीय एवं विवेचनीय ग्रन्थ है। विशाल ग्रन्थ में प्रश्नोत्तरों का ऐसा जाल फैला हुआ है कि मेरे सदृश अति सामान्य योग्यता वाले पाठक को उस के तात्त्विक धरातल को पकड़ पाना कठिन हो जाता है। प्रश्न कर्त्ता के मन में मूल प्रश्न एक रहता है किन्तु समाधाता जैनेन्द्र उसे शाखा-प्रशाखा में फैला कर पूरा वट-वृक्ष बना देते हैं।

मैं अपनी बात कहां से शुरू करूं यही मेरी कठिनाई है। प्रश्नों के अनुक्रम का अनुसरण मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। साढ़े चार सौ प्रश्नों का उत्तर जैनेन्द्र के बूते की ही बात हो सकती है साधारण पाठक तो शायद उन्हें पढ़ने का भी धैर्य न जुटा सकेगा। हां मैं कुछ विवादास्पद प्रश्नों को विचार के लिए प्रस्तुत करना चाहूंगा जिनके समाधान में जैनेन्द्र का विचारक अपने उत्कर्ष पर लक्षित होता है। किन्तु उन प्रश्नों को प्रस्तुत करने से पहले मैं दो-चार शब्द पुस्तक की शैली और स्वरूप के बारे में कहना चाहता हूं। यह विषयान्तर है किन्तु ग्रन्थ की गरिमा के उद्घाटन में इसे अग्राह्य नहीं समझा जाना चाहिए।

प्रश्नकर्त्ता श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त के मत में जैनेन्द्र जी मूलतः विचारक हैं। उन के कथा-साहित्य के मूल में भी विचार का बीज गर्भित रहता है। कथा के पात्र व्याज मात्र रहते हैं। पात्रों का चरित्र-विकास प्रायः विचार के साथ ही होता है। अतल-स्पर्शी गूढ़-गंभीर विचारों की व्यंजना करने के कारण जैनेन्द्र की शैली में एक प्रकार की विलक्षणता दृष्टिगत होती है जो अन्य किसी कथा लेखक में नहीं मिलती। प्रश्नकर्त्ता के मत में तो जैनेन्द्र उन सत्यों की प्रेरणा से लिखते हैं जिन का साक्षात्कार उन्होंने अपनी बुद्धि से नहीं—सम्बुद्धि से—अन्तर के गहनतम में किया है। प्रश्न-कर्त्ता की श्रद्धा समवेत आस्था को मैं ठेस पहुंचाए बिना यह कहना चाहता हूं कि अनाविल सत्य-दृष्टि समन्वित हो कर अथवा सत्य के साक्षात्कार से अनुप्राणित हो कर ही जैनेन्द्र ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया है ऐसा मानने को मेरा मन तैयार नहीं होता। अनुभूत और अनीप्सा से प्रसन्न निरपेक्ष वस्तु सत्य की प्राप्ति होती है, यह कहना भी संदिग्ध को सही करना है। प्रतिपादन का मार्दव शैली का गुण मानना चाहिए, उस के साथ सत्य

'समय और हम' चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड, परमब्रह्म अर्थात् ईश्वर आत्मा आदि सात अध्यायों में विभाजित है। द्वितीय खण्ड, परिश्रम की विवक्षा से सम्बद्ध है। इस में बीस अध्याय हैं। तृतीय खण्ड भारत की समस्याओं पर प्रकाश डालता है इस में १४ अध्याय हैं। चतुर्थ खण्ड 'अध्यात्म' से सम्बन्ध रखता है इस में १६ अध्याय हैं। यहां ग्रन्थ का पाठ परिपूर्ण है।

का साक्षात् दर्शन भी अनायास उपलब्ध होता हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूं कि इन प्रश्नों का समाधान करने में जैनेन्द्र का रूप सर्वथा शास्त्र पराङ्मुख रहा है ऐसा भी मैं स्वीकार करने को उद्यत नहीं। जैनेन्द्र शास्त्रवेत्ता, एकेडेमेशियन नहीं हैं, यह बात उन के स्वतःस्फूर्त चिन्तन को पाये जाने के लिए अवसर कही जाती है किन्तु भारतीय तत्त्व चिन्ता से उन का गहरा परिचय है और उस के मन्तव्यों को उन्हों ने अपनी विचारणा में पिरोया भी है। पश्चिमी दर्शन की अद्यतन मान्यताओं के संकेत उन के उत्तरों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। अतः उन्हें ऋषि-मुनि के आसन पर न बिठा कर विवेकशील विचारक एवं चिन्तक ही मानना चाहिए। हां शास्त्र शासन से जैनेन्द्र बचकर सोचते हैं, लिखते और बोलते हैं, इस में कोई सन्देह नहीं है। यह उन का मौलिक गुण है।

तीसरी बात मुझे यह कहनी है कि जैनेन्द्र अपने समाधान में वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ ही अधिक रहे हैं। उन्हों ने तर्क, युक्ति, प्रमाण का आश्रय न लेकर बुद्धि-विवेक पूर्ण चिन्तन का आश्रय लिया है। अतः उन के उत्तरों को यथावत् स्वीकार करने की सहज प्रेरणा नहीं होती। जैनेन्द्र के उत्तर शैली में सहज होने पर भी प्रतिपाद्य के धरातल पर दुरूह और कठिन लगते हैं। हां बौद्धिक धरातल पर बहस और गुत्था गुत्थी के लिए मैं उन में बड़ी गुंजाइश पाता हूं मुझे अनेक उत्तरों से जूझने की इच्छा हुई है और लगा है कि जैनेन्द्र के समस्त प्रश्न आन्दोलित तो हुआ है किन्तु परास्त नहीं हो सका। अपने चिन्तन या मनन से जैनेन्द्र अन्तिम सत्य को कीलित कर पाने में शायद पूरी तरह समर्थ नहीं हुए हैं।

चौथी बात यह है कि जैनेन्द्र ने 'समय और हम' के प्रश्नों को बड़ी सहजता से ग्रहण किया है। प्रश्न चुनौती नहीं होता—जिज्ञासा का ही अन्य रूप है। प्रश्न उत्तरदाता के प्रति मात्र उद्दीपक है समाधाता के मर्म को छूने और कुरेदने का साधन मात्र है। यदि प्रश्न में अमित उद्दीपन को आवेश और आक्रोश से ग्रहण किया जाय तो प्रश्न खो जाता है और समाधाता वक्ता मात्र रह जाता है। जैनेन्द्र की प्रखर बुद्धि का वैभव तो इन प्रश्नोत्तरों में है ही किन्तु इन में जो तत्त्व अपनी पूर्ण समृद्धि में मिलता है वह है विचार-विश्लेषण में तटस्थता। तटस्थ रह कर प्रश्न के आभ्यन्तर में प्रवेश करने की जैनेन्द्र की अपनी मौलिक शैली है—समाधाता पक्षधर न बने और 'उत्तर पक्ष' की स्थापना कर सके यह बड़ी बात है। प्रश्न को सुलझाने की शैली भी जैनेन्द्र की सर्वथा मौलिक है। वे उलझन से विचलित नहीं होते उलझन के पेच वे स्वयं पैदा करते हैं, फिर

फिर उनमें फंसते निकलते हैं। यह सुलझाने की उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई है। चूंकि अपने समाधान में सतह से नीचे पैठकर मतलब तक जाने का मोह वे छोड़ नहीं सकते इस लिए उलझन और पेच से उन्हें परेशानी नहीं होती—पाठक भले ही उस उलझन में फंस कर व्यग्र हो जाय। यही कारण है कि एक प्रश्न के उत्तर में जैनेन्द्र ने शब्द और वाक्य में से अनेकानेक प्रश्न उत्पन्न किए हैं और उन के उत्तर भी फैलाए हैं।

पांचवी बात भी कहना अप्रासंगिक न होगा। जैनेन्द्र ने अपने प्रश्नोत्तरों में अहं और ब्रह्म के समन्वय तथा अद्वैत की स्थान-स्थान पर चर्चा की है। अहं में वे व्यक्ति का पूर्ण अस्तित्व सन्निविष्ट मानते हैं मात्र सूक्ष्म चेतना नहीं। वह अहं या व्यक्ति को निरपेक्षता से परे सापेक्षता की सीमा में देखना चाहते हैं। उन के मत में निरपेक्षता (एब्सल्यूटिज्म) के लिए कोई स्थान नहीं है अतः परस्परता और सापेक्षता को बड़े आग्रह पूर्वक ग्रहण किया गया है। धर्म दर्शन अहिंसा प्रेम करुणा युद्ध आदि सभी तत्वों के साथ सापेक्षता की स्थिति उन्हों ने अनिवार्य रूप से मानी है। लेकिन मुझे आपत्ति यह है कि आइन्स्टाइन के जिस सापेक्षवाद को जैनेन्द्र अपनी विचार-परिधि में ही नहीं वरन् जगज्जीवन पर समग्र भाव में फलित और प्रतिफलित देखना चाहते हैं वह सिद्धान्त आज पश्चिम में उस समारोह के साथ ग्राह्य नहीं रहा है। तर्क मूलक भाववाद ने सापेक्षवाद से अधिक स्थूल कसौटी प्रस्तुत कर सत्य की परीक्षा को वैज्ञानिक बनाया है। मैं जैनेन्द्र के दर्शन में तर्क मूलक भाववाद की स्थापना नहीं चाहता और न इस सिद्धान्त को उपादेय समझता हूं किन्तु सापेक्षवाद को प्रमुख ग्रहण करने पर मुझे विस्मय अवश्य है। मोटे तौर पर ऐन्द्रिय अनुभूति को यदि प्रतीति का अवलम्ब बनाया जाय तो भी सार्वभौम कथन या सत्य के लिए अब काम नहीं रहता। तर्क मूलक भाववादियों ने कदाचित् इसी लिए विवाद रहित सत्य को माना ही नहीं था। नीति-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र में गृहीत सत्यों को भी ज्यों का त्यों स्वीकार न करने में तर्कमूलक भाववादियों का यही प्रबल तर्क रहा है कि जो सत्य ऐन्द्रिय नहीं उसे पूर्ण कैसे मान लिया जाय। सापेक्षता में आस्था रखने के कारण जैनेन्द्र ने प्रायः सभी प्रश्नों के उत्तर में इस का प्रयोग किया है विशेषतः काम प्रेम नारी यौन-समस्या आदि के विवेचन तो सापेक्षवाद से हो कर ही निकले हैं।

[२]

'समय और हम' की प्रतिपादन शैली के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त

करने के बाद मैं कुछ प्रश्नों को विचार के लिए प्रस्तुत करता हूं। जैनेन्द्र ने अपनी पुस्तक में अहं का प्रयोग इकतालीस बार तथा अहं से संयुक्त शब्दों का प्रयोग चालीस बार किया है। अहं और अहं से समुद्भूत इन शब्दों के इकासी बार प्रयोग से पाठक के मन पर यह छाप पड़ती है कि जैनेन्द्र अहं तत्त्व का विश्लेषण करना सब से अधिक आवश्यक समझते हैं। जैनेन्द्र ने अहं को किस अर्थ में ग्रहण किया है और अहं की व्याप्ति वे किस प्रकार समस्त सृजन प्रक्रिया में देखते हैं, यह विवेचनीय है। अहं को भिन्नता और विरसता के बीच का द्वार स्थिर करते हुए जैनेन्द्र ने अहं को जड़ और चेतन दोनों में देखा है। अहंता सर्वत्र विद्यमान है। अहंता का अर्थ है अंश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व। आत्मता अंश का समग्र व्यक्तित्व बोधित कराती है। अहं की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ है और उसके क्षय के साथ उस का विलय। मानव जाति को विवेक-बुद्धि मिली है अतः उस का अहं अन्य प्राणियों से भिन्न कोटि का है। मानव का अहं व्यक्ति-निष्ठ तथा विकास-शील है। प्रज्ञा के कारण मानवात्मा का अहं वैशिष्ट्य समन्वित होता है। वह अपने अस्तित्व के प्रति सतत जागरूकता उसके अहं को प्रबुद्ध बनाती है। अहं केवल अहंकार का द्योतक न हो कर प्रवृत्ति-निवृत्यात्मक भाव का केन्द्र है। यह अहं व्यक्ति के अतिरिक्त समूहनिष्ठ भी होता है। सम्प्रदाय समाजवाद राष्ट्रवाद आदि सिद्धान्तों के निकायों में इस अहं की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है। अहं के विकास या अभ्युत्थान के लिए उसे स्वीकारात्मक अर्थात् समर्पणात्मक होना चाहिए। युद्ध और संघर्ष समूहात्मक अहं की प्रतिक्रिया हैं और जब तक निषेधात्मक दृष्टि से अर्थ जुड़े रहेंगे तब तक संसार से युद्धों को टाला नहीं जा सकता। इस लिए जैनेन्द्र के मत में वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग युद्ध के पीछे नहीं है वरन् अहं के घात-प्रतिघात का परिणाम युद्ध है।

अहं को अंश मान कर ब्रह्म से आवृत मानने के सिद्धान्त में जैनेन्द्र ने किसी हद तक अद्वैत वेदान्त की बात कही है किन्तु 'अंशांशीभाव' को दार्शनिक आधार पर ग्रहण नहीं किया गया है। ब्रह्म में अनन्त सम्भावनाएं निहित हैं, व्यक्ति अहं यदि शेष अपरता के प्रति उन्मुख रहे तो व्यक्ति की सम्भावनाओं की भी इयत्ता नहीं रहती। अहं की सार्थकता इसमें है कि वह पारस्परिकता को अर्थात् पर-स्वीकार में विश्वास करे हठवादिता या परनिषेध की संकीर्णता से बचे। जितने अधिक व्यापक क्षेत्र में इस पारस्परिकता को अहं चरितार्थ करेगा उतना ही उसका विस्तार होगा।

अहं सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से चार तथ्य सामने आते हैं। प्रथम तथ्य

है—अहं जड़ चेतन में व्याप्त 'मैं' या 'मैं पन' की भावना है जो पूर्ण (ब्रह्म) से भिन्न अंश रूप में व्यक्ति में स्फुरित होती है। दूसरा तथ्य है—अहं, निषेध और स्वीकार दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से समन्वित होता है ये दोनों प्रवृत्तियां हिंसा और अहिंसा द्वारा व्यक्त होती हैं। तीसरा तथ्य है—अहं का सामूहिक रूप सम्प्रदाय वाद समाज और समूह द्वारा प्रकट होता है। यदि अहं का संस्कार कर लिया जाय तो संसार से युद्ध की विभीषिका को हटाया जा सकता है। चौथा तथ्य है—अहं वस्तुतः अंश मात्र होने से शेषी—ब्रह्म का अंश रूप है और समग्रता के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों में शेष और शेषी में पारस्परिकता अनिवार्य है उसके बिना अहं का पूर्ण विकास सम्भव नहीं।

इन चारों तथ्यों के अनुशीलन से अहं का जो स्वरूप निर्धारित होता है वह न तो दार्शनिक है और न व्यावहारिक। सूक्ष्म चैतन्य का प्रतीक दर्शन निष्ठ अहं जैनेन्द्र को स्वीकार्य नहीं। व तो जड़ चेतन में समान रूप से व्याप्त व्यक्ति की आत्मता को अहं के रूप में देखना चाहते हैं। जड़ का व्यक्तित्व असंदिग्ध है किन्तु संघर्ष और विकास के साथ भी अहं की प्रतीति उसे नहीं होती अतः समग्र में से समुद्भूत होने पर भी उसकी अहंता चेतन मनुष्य से भिन्न कोटिक है। इन दोनों स्तरों का भेद जैनेन्द्र ने प्रदर्शित नहीं किया। 'सब खल्विदं ब्रह्म' की दार्शनिक भावना में जो अद्वैत है वह जैनेन्द्र में नहीं है—अतः दार्शनिक भित्ति पर मैं जैनेन्द्र के अहं चिन्तन को खड़ा करने का स्पष्ट विरोध करता हूं। रामानुज मध्व आदि दार्शनिकों ने ब्रह्म-चिन्तन में अहं को जिस रूप में जीव (चेतन) का पर्याय स्थिर किया अथवा सांख्य दर्शन में जीवात्मा को अहं के रूप में देखा गया वैसा मत जैनेन्द्र का बिल्कुल नहीं है अतः अहं की मीमांसा में अद्वैत वेदान्त अथवा विशिष्टाद्वैत आदि की दार्शनिक सरणि का अवगाहन भी व्यर्थ होगा। यों रामानुजाचार्य की 'अग्नि पिण्ड और 'अग्नि स्फुलिंग' की कल्पना से किसी हद तक इस विचार धारा का मेल बैठ जाता है। किन्तु अहं का व्यापक विस्तार करके जैनेन्द्र ने उसे सबथा नया रूप दे दिया है।

सामूहिक या समष्टिगत अहं की स्थापना जैनेन्द्र के विचार-दर्शन का नया दान है। अहं को समष्टिगत बनाने में मूल अहंकार या सकान्तिक आग्रह को स्थान देना चाहिए था। जैनेन्द्र ने अहंकार या आग्रह को हटा कर अहं को कदाचित् एक विचार धारा का पर्याय माना है। कल्पना तो सुन्दर है किन्तु दर्शन की कसौटी पर इस का निर्वाह असम्भव है। राष्ट्रवाद पूंजीवाद समाज वाद साम्यवाद में सिद्धान्त पर वाद का आग्रह नहीं तो क्या है। जैनेन्द्र

जिसे सामूहिक अहं की संज्ञा देते हैं वह वाद का आग्रह मात्र है और कुछ नहीं। यदि इसी आग्रह को स्व-परता से समर्पण से समन्वित कर दिया जाय तो यह ढीला पड़ता है और वाद की जड़ता के छिन्न होने से व्यक्ति या समष्टि का अहं समग्रता की ओर अग्रसर होता है। इस मोटी-सी बात को 'सामूहिक अहं' के घटाटोप में ढकने की क्या आवश्यकता है? वाद सिद्धान्त या विशिष्ट विचार के आग्रह को समष्टिगत अहं की संज्ञा अन्य विचारक या दार्शनिक ने नहीं दी है, जैनेन्द्र-दर्शन की यह नूतन स्थापना समझी जानी चाहिए।

अहं को अंश स्वीकार करने पर जैनेन्द्र ने अंशी किसे माना है यह ध्यान देने योग्य है। अंशी शब्द का प्रयोग जैनेन्द्र ने नहीं किया किन्तु मैं समझता हूँ कि यदि अंश का अस्तित्व है तो अंशी अनिवार्य रूप से होना चाहिए। (जैनेन्द्र ने अंश-अहं से भिन्न को शेष शब्द से व्यवहृत किया है।) अखिल सृष्टि का पसारा ब्रह्म और जड़ चेतनमय जगत् जैनेन्द्र का अंशी होना चाहिए। अद्वैत दर्शन में ब्रह्म की सर्वत्र स्थिति होने से 'भौतिक प्रसार' को अंशी नहीं माना गया किन्तु जैनेन्द्र की मान्यता में व्यक्ति-अहं से बाहर जो कुछ सृष्टि में है वह अंशी (शेष) है। अंश-अहं को अपने विकास और प्रसार के लिए समग्रता से जुड़ा रहना चाहिए और इस जोड़ने की क्रिया में पारस्परिकता को स्थान दिया गया है। जैनेन्द्र कहना यह चाहते हैं कि अहं का विकास अपने भीतर की आबद्ध मर्यादा में नहीं—बाहर की पारस्परिकता और समग्रता में है अर्थात् सापेक्षिकता को मान कर अहं को बढ़ना होगा। पारस्परिकता और सापेक्षता का यह आग्रह मुझे अहं की आत्मता के विकास में प्रयोजनीय प्रतीत होता है। यह कल्पना यद्यपि नयी नहीं है किन्तु व्यक्ति-अहं या व्यक्ति चेतना की समग्रता को स्थापित करने की दृष्टि से उपादेय है। जैनेन्द्र ने इसका उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है और पारस्परिकता पर जोर देने का कारण यही है कि व्यक्ति-अहं एकान्तता ([illegible]) जड़ता में फँसने से बचा रहे। पारस्परिकता के लिए जिन का सहकार अपेक्षित है वे ब्रह्म और जीव, जड़ प्रकृति एवं मानवेतर प्राणि जगत् तथा मानव-मानव हैं। जैनेन्द्र ने अहं के संदर्भ में अहंचर्य शब्द गढ़ा है। अहंचर्य को ब्रह्मचर्य का विलोम बताते हुए ब्रह्मचर्य शब्द को भी सर्वथा नया अर्थ प्रदान किया गया है। आत्मलीनता या आत्मरति (स्वार्थभावना) अहंचर्य है और अपने प्रेम का सबके लिये मुक्त दान ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म शब्द से कदाचित् जैनेन्द्र का तात्पर्य समग्र से है जो चराचर रूप में व्याप्त है वही ब्रह्म है और इस के लिए सम्मिलित होकर समर्पण ब्रह्मचर्य है। इस अर्थ को पाठक ग्रहण करता है जानता है या

सम्भावना है समझ भी सकता है, इसकी चिन्ता जैनेन्द्र को है ऐसा मुझे नहीं लगता । हां होनी चाहिए, ऐसा मैं मानता हूं ।

जैनेन्द्र का 'ग्रहं तत्व विमर्श' चिन्तन की मौलिक सम्भावनाओं को उद्घाटित करने वाला है । दर्शन का गूढ़ अहं जैनेन्द्र के व्यवहार-दर्शन में जाना-पहचाना प्रचलित बन कर आता है, अतः उसे समझने के लिए तत्व चिन्ता कम और विचार चिन्तन अधिक अपेक्षित है । व्यक्ति की चेतना को अहं तक सीमित बनाने वाले भारतीय आस्तिक दर्शनों का अतिक्रमण कर जैनेन्द्र ने व्यक्ति के पूर्ण अस्तित्व को अहं की मर्यादा में समाविष्ट किया है । आत्मा के अस्तित्व की स्थापना में चेतन सत्ता का आग्रह अनिवार्य है । भौतिक सत्ता मात्र से अहं-चेतना का समर्थन नहीं हो सकता किन्तु जैनेन्द्र ने अपने अहं में चेतना के साथ अचेतन तथा भौतिक क्रिया-व्यापार को भी स्थान दिया है । अहं को समझने के लिए थोड़ा-सा विस्तार और अपेक्षित है । वह व्यक्ति जो शास्त्र परायण हो कर आदर्श का अनुसरण करता है और आदर्श में ही विकास की सम्भावनाएं देखता है तत्ववादी हो सकता है किन्तु समग्रनिष्ठ या ब्रह्मनिष्ठ वह नहीं है अतः उस के आदर्शानुसरण को अहंचर्य ही समझना चाहिए । *यह अहंचर्य व्रत नया नहीं तो क्या है ?*

स्त्री-पुरुष का भेद निरूपण भी इस अहं विवेचन में ही जनेन्द्र ने किया है । अहं-चेतना की उत्पत्ति के क्षण में ही पर के सान्निध्य की चाह ने स्त्री-पुरुष के भेद को जन्म दिया । जिस 'अंश-अहं' चेतना में यह चाह हुई कि 'वह मुझ में हो' वह स्त्रीत्व प्रधान हो गया और जिस ने यह चाहा कि मैं उस में होऊं वह पुरुषत्व युक्त हो गया । अहं के स्त्री-पुरुष भेद की इस कल्पना को जैनेन्द्र ने किसी शास्त्र के प्रमाण पर खड़ा नहीं किया है । यह जगत् की प्रकट व्यापार-लीला का दार्शनिक शब्दावली में गुम्फन मात्र है । जैनेन्द्र ने इस कल्पना को आप्त बनाने के लिए अर्ध-नारीश्वर की पौराणिक कल्पना का संकेत अवश्य दिया है जो किसी हद तक कल्पना के मेल में है ।

जैनेन्द्र के तत्व चिन्तन में अहं का प्रमुख स्थान है । उन्होंने काम प्रेम और यौन आकर्षण में अहं को प्रेरक शक्ति के रूप में समोया है । काम के मूल में भी अहं की सत्ता है और प्रेम में भी—क्या यह स्पष्ट विरोध नहीं लगता ? किन्तु इस का समाधान जैनेन्द्र के पास है । वह अहं जो दुर्बल है परिस्थिति से प्रभावित होता है जो पत्ते की तरह हवा के रुख पर कांपता है संग-साथ स्थिति-परिस्थिति से ही अपनी प्रेरणा से लेता है और एक झोंक में दुष्ट और दूसरे में भक्त बना दीखने लगता है यह दुर्बल अहं है और यही चित्त की चंचलता में कारण रूपता निमुख होता है । अहं रति की स्थिति में इस लिए प्रेम असंभव है क्योंकि स्व'

है 'पर' में सम्मिलित हुए बिना प्रेम उत्पन्न हो नहीं हो सकता।

सामान्यतः अहं को हम विवेक सम्पन्न व्यक्तित्व चेतना का पर्याय मानते हैं अतः जीव-जन्तु जगत् में अहं की स्थिति नहीं मानी जाती किन्तु मैं ने पहले लिखा है कि जैनेन्द्र का व्यापक अहं जीव-जन्तु जगत् तक फैला हुआ है। जैनेन्द्र ने उन में भी पारस्परिकता मानी है जो सामान्यतः जगती नहीं है। किन्तु सीमा-विशेष में जैनेन्द्र ने जीव-जन्तुओं की पारस्परिकता का निर्देश किया है। पशु-पक्षियों की मूक भावना में इसी सामाजिक पारस्परिकता को देखने का प्रयास किया गया है।

'परमात्म तत्व में जो अहं के रूप में अलग-अलग घटकों में विभाजन की आवश्यकता क्यों पैदा हुई? और जब हुई तो उस अहं में जिसे आप बहुत इष्ट नहीं मानते इतनी शक्ति कहां से आई कि वह आत्मा को रुद्ध और आवृत बनाए रख सके और उसके विरुद्ध आत्मा को सतत एक संघर्ष देखना पड़े।' पृष्ठ ६२२ पर अंकित प्रश्न नं० ४२२। प्रश्न-कर्त्ता ने दो महत्व पूर्ण शंकाएं रखी हैं। परमात्म तत्व से अहं के पृथक होने का हेतु और अहं के शक्ति-सम्पन्न हो कर आत्मा से जूझने का हेतु। पहली शंका का समाधान करते हुए जैनेन्द्र ने कहा कि यह महा प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं है। परमात्म तत्व से अहं पृथक हुआ यह हेतु की मर्यादा नहीं चाहता। यदि कोई हेतु ढूंढना ही हो तो समझ लीजिए कि 'परमात्म स्वभाव लीला मय है, नारायण की लीला में से नर की सृष्टि है सृष्टि स्रष्टा की केलि क्रीड़ा है, इसके अतिरिक्त और कोई सार्थक भाषा हो नहीं पाती। जैनेन्द्र जैसे विचारक का यह उत्तर सर्वथा परम्परा वादी है। इसमें युक्ति तर्क का अभाव तो है ही पद-कल्पना का पुराना संकेत भी निहित है। हम जैनेन्द्र जैसे विचारक से वल्लभाचार्य की लीलापरक व्याख्या की आशा नहीं करते। भक्ति मार्गीय प्रायः सभी आचार्यों ने ऐसा उत्तर प्रस्तुत किया है। क्या जैनेन्द्र सृष्टि प्रक्रिया का कारण भी परमात्मा की क्रीड़ा प्रवृत्ति को—लीला को—ही मानते हैं? अहं के उद्भव के लिए अधिक वैज्ञानिक बौद्धिक एवं तर्क सम्मत उत्तर अपेक्षित है।

अहं और आत्मता का विश्लेषण भी इस प्रसंग में समझ लेना चाहिए। अहं और आत्मा का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? जैनेन्द्र के मत में सम्बन्ध वही है जो आकाश और पिंड का है। मूल धरातल आकाश है, आत्मता भी तद्वत् मूल धरातल है। आकाश में पिंड गति करते हैं। 'अहं जीवित रहता है क्योंकि उसे आत्मता का अवलम्ब है। अहं स्वयं में व्यर्थ और खंडित हो जाता है, अगर दोष से उसे हम सर्वदा हटा और घटा मान लेते हैं। इस प्रकार दर्प से छिन्न-भिन्न अहं है ही नहीं। फिर जो उसकी अव्यक्त संयुक्तता है, उसी को आत्मता का अंश कहना चाहिए।

अहं सम्बन्धी ऊपर के विवेचन-विश्लेषण के बाद भी यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनेन्द्र ने अहं की स्थूल परिभाषा प्रस्तुत न करके उसके व्यापक स्वरूप और अस्तित्व का विविध रूपों में वर्णन किया है। परिभाषा के अभाव में अहं का स्वरूप बोध सामान्य पाठक के लिए नितान्त दुर्बोध हो गया है। दो सौ पृष्ठों में जो कहा गया है उसे प्रारम्भ में दो पंक्ति और दो पृष्ठ में अवश्य कहना चाहिए था।

जैनेन्द्र जी की दार्शनिक विचार-धारा

—श्री सत्यप्रकाश 'मिलिंद'

जैनेन्द्र जी ६ वर्ष के हो गए और उनका ६१वां वर्ष उन की ड्योढ़ी पर आ कर उन्हें और समस्त हिन्दी संसार को एक संदेश देने को आतुर है। आगामी वर्ष कहता है कि जीवन-मंथन में प्राप्त ज्ञान की कसौटी पर स्वयं को कसने में सत्य प्रेम और अहिंसा को साहित्य के हर संभव माध्यम से प्रतिष्ठित करने में कुशल एवं पर-सेवा की धुन में स्व-सेवा को सर्वथा भुला बैठने में पूर्णतया सम्पन्न इस साहित्य-साधक की इस उक्ति को सत्य हो कर ही रहना है कि 'निष्फलता ही जीवन का निष्कर्ष नहीं है, अकार सार नहीं है।'

आचार्य प्रवर डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के इस वक्तव्य को कौन अस्वीकार कर सकता है कि 'जैनेन्द्र ने बहुत लिखा है और आज भी उस की ज्ञान वेदि की अग्नि समृद्ध है।' निश्चय ही कथाकार, उपन्यासकार, विचारक और चिन्तक जैनेन्द्र की रचना प्रक्रिया और उन की विचार-धारा की शल्य-चिकित्सा करने वाले किसी भी कुशल साहित्यकार 'सर्जन' को उन की विशुद्ध कल्पना विस्मरणीय स्मृति एवं अद्भुत रुचि के क्षेत्रों को दृष्टि से ओझल नहीं होने देना है। और तभी उन की नई एवं पुरानी दोनों प्रकार की रचनाओं में से नई चेतना को ढूंढ निकालना होगा।

मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि जीवन-दर्शन के कुशल व्याख्याता के रूप में चित्रकार जैनेन्द्र एक ऐसी तूलिका को थामे हिन्दी जगत में आए जिस से उन्होंने अपने विविध उपकरणों उद्गारों मनोद्वेगों और अनुभवों को अपनी विभिन्न कृतियों के माध्यम से चित्रित कर के एक मौलिक एवं आकर्षक एलबम के चित्रों को बिखेर दिया है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र की कृतियों में पत्थर से पड़े हैं और उन के साहित्य में गांठें इतनी ज्यादा आती हैं कि दूर से देखने वाला दर्शक जैनेन्द्र को मात्र दार्शनिक मान कर खीझता हुआ-सा आगे बढ़ जाना चाहता है। पर एक साथ उस के पैर रुक जाते हैं। वह देखता है कि हिन्दी-साहित्य के इस अन्धेरे-अंधेरे और कंटकाकीर्ण मार्ग पर एक 'माइल-स्टोन'

के रूप में जैनेन्द्र का व्यक्तित्व उभरा है। उसी क्षण वह अपने मन के पृष्ठ-भाग से भुसने वाली शंका को झाड़ कर खड़ा होता है, क्योंकि वह देखता है कि इस कृतिकार ने अपनी तमाम उम्र मां सरस्वती की सच्ची सेवा की है और अपने ज्ञान को सही अर्थ में जीवन की कसौटी पर परखा है।

वक्त के पहरेदार

वक्त पर भी पहरा बैठाने की अद्भुत क्षमता एक स्वस्थ चिन्तक और शाश्वत साहित्यकार में ही होती है। 'इतस्ततः' और 'समय और हम' जैनेन्द्र के ऐसे दो नए सशक्त प्रहरी हैं जो एक ओर यदि युग की विद्रूपता से थके मानव के परों को सहलाने में कुशल हैं तो दूसरी ओर वे डंके की चोट समाज पर किए जाने वाले हर अन्याय के विरोध में अपना स्वर ऊंचा करके सही रास्ता दिखाने का गुरु भार भी ओढ़े हुए हैं।

जैनेन्द्र जी अपनी इन दोनों ही कृतियों के माध्यम से स्वतंत्र एवं प्रबुद्ध माने वाले क्षण को अधिक परिमार्जित एवं सफल बनाने के लिए प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। व्यक्ति के प्रति अविश्वस्त भाव की प्रणालियों के प्रति जैनेन्द्र जी पूर्णतया सजग हैं और वह अनुभव करते हैं कि 'सामूहिक अहं चेतना की वेदी पर व्यक्ति-अहं के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं की बलि दे दी गई है।

विद्रोही भावों की उत्पत्ति

मुझे तो ऐसा लगता है कि 'इतस्ततः' की उत्पत्ति और उस का प्रादुर्भाव ही दार्शनिक जैनेन्द्र के विद्रोही भावों के कारण हुआ है। इस को उन्होंने एक सम्पादक महोदय के शब्दों में कहलाया भी है। वस्तु सत्य यह है कि 'धर्म और संस्कृति' के अन्तर्गत प्रारम्भ में ही जैनेन्द्र जी ने परम्परा प्रगति और धर्म जैसे बहुचर्चित एवं नित्य प्रयुक्त किन्तु बहुत ही विशिष्ट शब्दों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र दर्शन का उद्घोष है—"विगत आगत और अनागत को एक लड़ी में थामता है वह धर्म है।"

'इतस्ततः' में सात सहायक हैं —(१) प्रेम विवाह और व्यक्तित्व (२) सभ्यता और सभ्यता (३) स्वराज (४) प्याला में तूफान (५) धर्म और विज्ञान (६) पैसे का सत्य और (७) अभाव और आदर्श। सभ्यता पर जैनेन्द्र जी ने जो विचार व्यक्त किए हैं वे विचित्र से लगते हैं। वस्त्र के आविष्कार के विषय में वे कहते हैं—"एक मनुष्य ने वस्त्र का आविष्कार किया है। किया है

कि वह असत को देखेगा सिर्फ अपने को नहीं देखता कि अनिष्ट को अप्रीतिकर को अरुचिकर को वह देगा और उसी को लगा जो प्रिय है इष्ट है।" इस प्रकार की उक्तियां जन-साधारण को झमेले में डाल देती हैं। पर दार्शनिक जैनेन्द्र दुनिया के बन्धनों से ऊपर हैं—वह तो उस वस्तु-सत्य का प्रकाशन करते हैं जो उन के तक पर टिकता है।

मनीषी जैनेन्द्र

यह है आठ नवम्बर, नेता जी सुभाष मार्ग जिस में 'पूर्वोदय' का कार्यालय स्थित है। इसी कार्यालय के पृष्ठ भाग में एक साधारण-सा कमरा है जिस में पड़े तख्त पर मौन एवं शान्त पलथी-दुबके जैनेन्द्र जी विराजमान हैं। आप उन को देख कर ही समझ जाएंगे कि वह छोटी-मोटी निन्दाओं और आलोचनाओं से ऊपर हैं और अगर कहीं आप भूले भटके उन के दर्शन या जीवन की परिभाषा का प्रसंग छेड़ बैठे तो निश्चय ही आप आश्चर्यचकित रह जाएंगे—यह सुन कर कि 'अर्जुन ने कहा—'कर्म', गीता में कहा—'धर्म' और कुरान ने कहा—'कुर्बानी' तो क्या यही सब जीवन का धर्म है? सार है? लक्ष्य है?"

दो क्षण भी आप अगर जैनेन्द्र जी के कमरे में बैठे रहे और आप उन से पूछ बैठे तो आप को धर्म के विषय में भी उन के विचार सुनने को मिल सकते हैं। वह आप को स्पष्ट रूप से समझाएंगे कि "धर्म और क्या है? यह अवतार और पैगम्बर और मसीहा क्या हैं? व्यर्थताएं हैं जिन को अपने बीच हमने खड़ा कर लिया है कि उन के सहारे प्रभु बनें दूसरे दास बन रहें।" और फिर आप स्वतन्त्र रूप से निश्चय ही कह बैठेंगे—जैनेन्द्र एक 'जीनियस' हैं विश्व साहित्य भर में क्योंकि 'प्रतिभा' विश्वव्यापी होती है, देश काल या प्रान्त की रेखाएं धर्म-धर्म उस के चारों ओर से धूमिल होती चली जाती हैं।

तो अब आप जरा देखिए उन नेत्रों को उस मस्तिष्क को और उस व्यक्तित्व को जिस ने समय के साथ हमें जोड़ा या तोड़ा है। 'समय और हम' के सर्जक की सन्दमी उसकी एक मौलिक विशेषता है—दर्शन में जिस व्यक्ति का विश्वास लगभग नहीं के बराबर है। विज्ञान और आस्तिकता में जो अन्तर है उस का कितना सुन्दर और सुलझा हुआ प्रकाशन जैनेन्द्र ने प्रस्तुत किया है "माना जाता है कि आस्तिक बयान ही होता है। विज्ञान उस से बरी है। सकट जिस में मानव जाति आ पड़ी है बहुत-कुछ उसी विच्छेद और विरोध में से बना है।"

जैनेन्द्र जी गान्धीवादी हैं सर्वोदय में विश्वास रखते हैं और भारत के मैक्सिम गोर्की हैं अनेक ऐसे मत प्रायः प्रचलित हैं। पर मुझे तो ऐसा लगता

है कि एक ध्रुव सत्य अगर आज कोई है तो वह यह है कि जैनेन्द्र जी हमारे देश की प्रगतिशील गति विधियों से कुछ क्षुब्ध से हैं। तभी तो वे कहते हैं—"सब जानते हैं कि कांग्रेस के अधिकांश नेताओं को गान्धी जी का मार्ग उस समय रुचा और पचा नहीं। पाकिस्तान को कांग्रेस के नेताओं ने स्वीकार किया कांग्रेस की जनता ही शायद इस निर्णय को न मानती नेताओं को स्वयं यह संशय था।
(समय और हम'—पृष्ठ २११)

दुरूह जैनेन्द्र

कहानी के शिल्प प्रभाव शिल्प और इतिहास पर दृष्टिपात करने से आज के पाठक को जैनेन्द्र की *कहानियों की सूक्ष्म 'अंतरंगता'* कभी-कभी ऐसी दुरूह और दुष्कर-सी लगने लगती है कि सामान्य पाठक जैनेन्द्र को भ्रान्तिकारी एवं दुर्गम कहानीकार की संज्ञा तक दे डालना चाहते हैं। इधर रूढ़िवादिता को तोड़ गिराने वाले दार्शनिक चिन्तक और विचारक जैनेन्द्र के विषय में कुछ भाइयों ने ऐसा मत व्यक्त किया है कि जैनेन्द्र का दर्शन-ज्ञान और उसकी आमूल क्लिष्टता उनकी कहानी के मार्ग में बाधक-सा बन गई है और इसी से पिछले कुछ दिनों में जैनेन्द्र की कुछ कहानियों की यत्र-तत्र-सर्वत्र चर्चा रही है (इस का उत्तर जैनेन्द्र के शब्दों में स्वयं यह है— 'लेकिन दार्शनिक मैं हूं कहां ? मैं अपने को निपट जिज्ञासु मानता हूं।" एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है— 'ज्ञान की जड़ अहं में है। प्रेम अहं के विसर्जन का नाम है। इसलिए ज्ञान और प्रेम में सदा लड़ाई चलती है। मैं प्रेम का चिर भिक्षु प्रवासी हूं। छोड़ कर के ज्ञान की पंक्ति में कैसे बैठ सकता हूं ? कहानी को मैं प्रेम-तत्त्व से जुड़ा देखना चाहता हूं।")

'विज्ञान' नामक उन की कहानी के विषय में हिन्दी-जगत् में इन दिनों काफ़ी चर्चा रही है। मैंने भी उसे पढ़ा और जैनेन्द्र जी से एक दिन सहसा चर्चा छेड़ ही बैठा। उनके विचारों को व्यक्त करने की चेष्टा करते हुए स्मृति के आधार पर ही मैं कह सकता हूं कि जैनेन्द्र समझते हैं कि विज्ञान अपने आप में परिपूर्ण दृष्टि का द्योतक नहीं है।" जब मैंने उनसे यह जानना चाहा कि तो फिर व्यक्ति और विज्ञान का सम्बन्ध कैसे बनता है तो उन्होंने मुझे समझाते हुए कहा— 'विज्ञान व्यक्ति का सम्बन्ध वस्तु के साथ समीचीन बना सकता है किन्तु जब प्रश्न व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध का हो तो विज्ञान अपर्याप्त है।" इस सूक्ष्मतम अन्तर को समझने की चेष्टा करते हुए जब मैं खोने-सा लगा तो जैनेन्द्र जी का अगला वाक्य था— 'इस पारस्परिक सम्बन्ध के लिए भावना

भावात्मक है।" कितनी स्वस्थ दिखाई देती है जैनेन्द्र जी की विचारणा। जब वह यह उद्घोषणा करते हैं कि "भावना हीन सामाजिक एवं वैयक्तिक सम्बन्ध वैधानिक नहीं होते बल्कि अवैध होते हैं और उसमें से फलित हुआ समाज विज्ञान सुखी-समाज की सृष्टि नहीं कर सकता।" जैनेन्द्र के रचनात्मक मस्तिष्क से निकला कुछक और भी कहानियों ने पाठकों को मस्तिष्क पर जोर डाल कर सोचने-समझने के लिए बाध्य कर दिया है। 'विज्ञान' का उत्तर बूझने की इच्छा में ही जब पाठक 'अविज्ञान' को पढ़ता है तब उस के हाथ लगती है यह वास्तविकता कि अविज्ञान में भावनात्मक तत्वों का समीचीन पोषण है। 'लिबरेटिड माइण्ड' भी मैंने पढ़ी। एक बार तो समझ में आया ही नहीं लेकिन जब एकाग्रता के क्षणों में दो-तीन बार उस पढ़ने की चेष्टा की तब लगा कि जैनेन्द्र जी का यह मत वास्तव में प्रशंसनीय है कि जिस मस्तिष्क (माइण्ड) को हम मुक्त (लिबरेटिड) मान कर सराहते हैं वह अन्त में केवल कल्पनाओं और धारणाओं से मुक्त हुआ करता है। मुझे लगा कि जैनेन्द्र प्रायः उस 'माइण्ड' की तलाश में रहते हैं जो अहं से आसक्त और आबद्ध न हो। इसी लिए तो जैनेन्द्र इस बात की घोषणा करते हैं—'लिबरेटिड माइण्ड' का 'पन्थ-स्वर' इति में से निकला है और उसी पन्थ पर चल कर सच्ची मुक्ति जैसी उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती।" मैं ने जैनेन्द्र जी के विचारों को इस विषय में समझने की चेष्टा की है। मुझे लगता है कि इस माध्यम से वह आधुनिक लिबरेशन (मुक्ति) पर खासा प्रहार कर बैठे हैं। उनकी दृष्टि से सच्ची मुक्ति 'स्व' को 'पर' से निरपेक्ष करने में नहीं है बल्कि 'स्व' और 'पर' में लीन करने में से प्राप्त हो सकती है। आज का लिबरेशन जैनेन्द्र जी को ऐसा लगता है मानो सामाजिक दायित्व से भाग उठना चाहता हो। जैनेन्द्र जी का यह विचार अक्षरशः सत्य है कि इस प्रकार के लिबरेशन में से "कुण्ठा फलित हो सकती है—मुक्तता नहीं।"

क्या आप ने जैनेन्द्र जी को शतरंज के मुहरों को पीटते और पिटवाते और दम्पों को बिसराते और उन के बीच स्वयं बन कर बैठते देखा है? क्या आप ने निराश और हिम्मत-हारे व्यक्ति को जैनेन्द्र जी से साहस लेते वाला धैर्य प्राप्त करते देखा है? तथा क्या आप को कभी ऐसा भी मिला है कि आप उस समय गए हों जब जैनेन्द्र जी गम्भीर विषयों और गहन समस्याओं पर अपने विचार धारा-प्रवाह रूप से 'टाइपिस्ट' को डिक्टेट करते हों? मेरा ऐसा विश्वास है कि जैनेन्द्र जी विधाता की एक देन हैं जिसे हमें संजो कर, सम्भाल कर रखना चाहिए।

जैनेन्द्र जी की महासागरता

—डा० रामेश्वर गुरु

'परख' और 'सुनीता' के लेखन से प्रारम्भ करके गांधीवादी-सर्वोदयी दर्शन की मंजिल तक का पथ एकदम ऋजु नहीं दीख पड़ता। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के कर्ता के साथ मानवतावादी आदर्शोन्मुखी दार्शनिक का मेल ठीक ठीक नहीं बैठता यह अनेक तार्किकों का मत है। किन्तु सही बात यही है कि घोर व्यावहारिक यथार्थ की संकुलता के बीच से ही आदर्श अपना रास्ता बना कर चलता है। यों भी कह सकते हैं कि यथार्थ की दृष्टि जितनी गहरी और पैनी होगी आदर्श की कान्ति उतनी ही प्रखर और आकर्षक होगी। जो जीवन को जितनी ही मजबूती से पकड़ेगा आस्था से ग्रहण करेगा वह उतनी ही दृढ़ता से उतने ही विश्वास के साथ जीवन के यथार्थ को कह पाएगा और आदर्श को छू सकेगा। सोचें तो जान पड़ेगा कि इस उपलब्धि के लिए आवश्यकता एक अद्भुत बौद्धिक संतुलन की है जो यथार्थ की चिपचिपाहट और आदर्श की आकाश कुसुमता के खतरे से बचाए रह सके। अगर कहूँ कि जैनेन्द्रकुमार का व्यक्तित्व ऐसे ही संतुलन का व्यक्तित्व है, तो सम्भवतः यह उन का सब से सच्चा परिचय होगा।

अपरिचय में ज्ञान अधूरा रह जाता है, अति-परिचय में वह रागात्मक हो उठता है। मैं जैनेन्द्रकुमार से परिचित हूं इतना ही कि उन के बारे में निकटता से जान सका हूं इतना अधिक नहीं कि उन की बात को ले कर एकदम भावुक हो उठूं। दो दशाब्दियां होने आई हैं, जब उन के साथ उन के निवास-स्थान पर ठहरने का अवसर मिला था। तब श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान जीवित थीं। वह भी मेरे साथ थीं। दूसरी बार कोई पांच वर्ष पूर्व वह भोपाल आए थे और तब दो दिन उन के साथ रहने का अवसर पाया था।

इन दो सम्पर्कों से विभिन्न सूत्रों से जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में अपनी निजी धारणा बनाने में सहायता मिली। जब मैं प्रेमचन्द के सम्बन्ध में लिख रहा था तब प्रेमचन्द-सम्बन्धी उन के लेखों को ले कर कुछ पत्र-व्यवहार भी मेरा जैनेन्द्र

भी से हुआ था। उन को जानने में यह प्रसंग भी उपयोगी सिद्ध हुआ।

विस्तृत परिचय देना आसान हुआ करता है। विस्तार से कही बात उस को कम से कम स्थूल रूप में रखने में तो सफल हो जाती है लेकिन जहां विस्तार की गुंजाइश न हो जो कथनीय है उसे सूत्र में कहने के अतिरिक्त कोई चारा न हो वहां कठिनाई खड़ी हो जाती है। जैनेन्द्र जी के सम्बन्ध में यही संकट है। उन का व्यक्तित्व सूत्रात्मक है सूत्र के सहारे ही उन के विस्तार को समझना होगा। उन के बाह्य की सरलता और अन्तर की गम्भीरता उन के परिचय के चारों ओर परिधि-सी खींचे रहती है जिन्हें लांघ कर भीतर पहुंच पाना सर्वथा आसान नहीं होता।

(जो मितभाषी हो जिस का मौन उस की मुखरता से अधिक वाचाल हो जो रूप से अरूप और दृश्य से अदृश्य तक थाम सकने वाली दृष्टि लिए हुए हो जो वर्तमान के क्षितिज पर किसी भविष्य का आलोकद्रष्टा हो उसे एकदम सामान्य विधि से पहचानना परखना सम्भव नहीं होता। मैं जब-जब जैनेन्द्र जी के बारे में सोचता हूं तो तब मेरे सामने प्रशान्त महासागर का चित्र साकार हो उठता है।)

यह कथन स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। जैनेन्द्र जी की महासागरता इस में है कि अपनी अभिव्यक्ति में भी उतने ही अगम्य, दुस्तर हैं। उन के भीतरी भाव-रत्न अभिव्यक्ति में जैसे उभर आते हैं। लेकिन कोई कहे कि भीतर रत्न नहीं है तो सचेत कि अवगाही अभी अबोध है। हां यह ठीक है कि इन रत्नों की परख सर्व-सुलभ नहीं है।

यह निर्विवाद है कि जैनेन्द्र जी मूलतः विचारक हैं। उन का कथाकार उन के कुशल विचारक का पल्ला पकड़ कर चलता है। जहां कथाकार पर यह विचारक हावी नहीं हुआ है वहां जैनेन्द्र की कृति कथा साहित्य का गौरव बन गई है। लेकिन अनेक प्रसंगों में जैनेन्द्र का विचारक कथाकार को एकदम अपने नियंत्रण में रखने की कोशिश में कथा रस में व्याघात पहुंचाता जान पड़ता है। फिर भी यह सत्य है कि जैनेन्द्र के समस्त व्यक्तित्व का रहस्य उन के विचारकत्व में है। जितने जैनेन्द्र के विचार एकत्र किए थे उसने यह मान लिया था कि जैनेन्द्र का विचारक रूप ही उन का प्रकृत रूप है।

जैनेन्द्र का कथा-साहित्य विद्रोह का साहित्य है। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य को समाज की वेदी पर बलि होते देख कर क्षुब्ध हो उठता है, उस का विद्रोह वेद स्विता के साथ मुखर हो उठता है। उन्हों ने समाज में गिरी हुई नारी की जैसी हिमायत की है वैसी किसी भविष्यद्रष्टा की कृति और वाणी में ही सम्भव है, पर

समाज से एकदम इनकार करके उस को आमूल नया बनाने की कोशिश करने वाला समाज की साधारणता के साथ मेल न बा सकने के कारण समाज से दूर जा पड़ता है। यही उस व्यावहारिकता की आवश्यकता पड़ती है जो गांधी-जैसे शांतिद्रष्टा में मिलती है। बाद में जैनेन्द्र ने गांधीवाद को स्वीकार किया है किन्तु गांधीवाद का व्यावहारिक पक्ष जिस सामंजस्य को साध कर चलना चाहता है, वह जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में नहीं भी मिलता। तभी उन की कथा-कृतियां एक बेचैनी-सी बना कर रह जाती हैं। तभी लगता है कि उन की कट्टो उन की सुनीता उन की मृणाल उन के विरुद्ध एक आरोप-पत्र एक अभियोग-पत्र लिए जनता की अदालत में खड़ी हैं। जैनेन्द्र ने यद्यपि इन बेचबालों को सहनशीलता के माध्यम से वाणी प्रदान की है तथापि उन के प्रति सहानुभूति-संवेदना जैसी कुछ जगनी चाहिए, वह जग नहीं पाती।

(और विचारक जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में आलोचक कहता है कि उन की प्रक्रिया मात्र मंथन की प्रक्रिया है, किन्तु मंथन जब तक नवनीत न दे पाए, उस की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। अगर दर्शन में साधना और सिद्धि जैसी स्थितियां सम्भव हैं तो कहेंगे कि जैनेन्द्र का विचारक अभी साधक है।)

सम्भवतः बात ऐसी कुछ भी हो सकती है जैसी आचार्य विनोबा भावे के सम्बन्ध में कही जाती है। सर्वोदयी दर्शन को व्यवहार में फैलाने का प्रयत्न विनोबा कर रहे हैं, किन्तु निहित स्वार्थ ढंग-ढंग से बाधाएं खड़ी कर रहे हैं। तभी एक सहज सत्य लोगों को अरयन्त स्पष्टित नहीं कर पा रहा है। सम्भवतः भौतिकता के निबिड़ वातावरण में सर्वोदयी दर्शन की विचारधारा अभी गर्म तवे की बूंद बनी हुई है। लेकिन भौतिकता का अतिरेक एक दिन स्वयं जब आध्यात्मिकता के लिए विकल हो उठेगा उस दिन सम्भवतः जैनेन्द्र की बारीकी का मर्म जन मानव अधिक समझ पाएगा।

जैनेन्द्र कथाकार हैं विचारक हैं दार्शनिक हैं।

जैनेन्द्र की प्रेयसियां

—प्रोफेसर भगवत्शरण जौहरी

उपन्यास शब्द का अर्थात् समीप तथा न्यास अर्थात् थाती के योग से बना है, जिस का अर्थ हुआ वह कृति जिस को पढ़ कर ऐसा लगे कि इस में हमारी ही कथा हमारी भाषा में कही गई है। परन्तु उपन्यास जीवन का चित्र है प्रतिबिम्ब नहीं है। उपन्यास का मुख्य ध्येय पाठक का मनोरंजन ही नहीं है। वह महान सत्यों और नैतिक आदर्शों का एक अत्यन्त मूल्यवान साधन है। उपन्यास निर्माण के चार तत्व सामने आते हैं, राग सामयिकता लेखक का दर्शन तथा कथा। उपन्यास उस आधुनिक युग की उपज है जिस का दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है। उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है और उस के रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।

वर्तमान कथा-साहित्य के विकास में प्रेमचन्द के पश्चात् जैनेन्द्रकुमार का विशिष्ट स्थान है। वह अपनी शैली के जादूगर समझे जाते हैं। विश्व में ऐसे विचारोत्तेजक लेखक थोड़े ही हैं। साधारण से असाधारण हो वह अपनी पीढ़ी के प्रतिनिधि कथाकार कहलाए हैं। प्रेमचन्द जी ने उन्हें भारत का गोर्की कहा तथा चन्द्रकान्त गुप्त जी ने उन्हें हिन्दी का रवीन्द्र या शरद ठहराया। वह गांधीवादी भी हैं। उन का गांधीवाद मानवतावाद का दूसरा नाम है, जो वादों के विवाद से परे है। 'परख', 'त्यागपत्र' की सीमा से त्यागपत्र दे कर जैनेन्द्र आज बहुत दूर निकल गए हैं। उन की आलोचना करते हुए डाक्टर देवराज ने लिखा था—"जैनेन्द्र की प्रतिभा अप्रतिद्वन्द्विनी है। बौद्धिक गहनता और नैतिक विश्लेषण में शायद हमारे देश का कोई उपन्यासकार उन की समता नहीं कर सकता। उन की दृष्टि और कला युग-युग की जिज्ञासा और वेदना में प्रतिष्ठित है।" वह प्रारम्भ से समस्या-उपन्यासों की रचना में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। वह जीवन में व्यावहारिक न हो कर आदर्शवादी हैं अतः समस्याओं का कोई हल उपस्थित नहीं कर पाते।

सृष्टि की रहस्य-स्वरूपा नारी विश्व-साहित्य में अपना अनन्य स्थान रखती

है। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में पुरुष अपनी जननी की गोद में बनता बिगड़ता है पुनः यौवन की देहलीज पर चरण रखते ही उसे नारी के प्रिया-स्वरूप से प्रेरणा मिलने लगती है। इस प्रकार पुरुष के व्यक्तित्व-गठन में नारी का बड़ा उत्तरदायित्व है। इसी से नारी को देवी मां सहचरी तथा प्राण जैसे शब्दों से सम्बोधित किया गया है। नारी के दो रूप प्रायः सामने आते हैं, गृहिणी और प्रेयसी। कभी ये जीवन-सरिता के दो विपरीत छोर से लगते हैं कभी ऐसा भी लगता है जैसे दोनों संगम की धाराओं के समान साथ-साथ बह सकें। प्रेयसी हमारे भावात्मक मन की कल्पना है जबकि गृहिणी उसी भावना का सामाजिक रूप है। पंत जी ने अपनी अवगुंठिता कविता में इन का वर्गीकरण और विश्लेषण इन शब्दों में किया है —

बंध कर हृदय मुक्त होते हैं, बंध कर देह यातना सहती
नारी के प्राणों में ममता, बहती रहती बहती रहती।
हृदय तुम्हें देती हूं प्रियतम देह नहीं दे सकती
जिसे देह दूंगी अब निश्चित, स्नेह नहीं दे सकती।

शरत् के नारी-पात्र प्रायः ऐन्द्रियता से रहित हैं। उन की नारियां गृहिणियां हैं प्रेयसियां नहीं। प्राची की उषा के समान रंगीन एवं आकर्षक प्रेयसी जीवन के इतिहास में एक नया पृष्ठ खोलती है। वह मृग-मरीचिका है, छाया है और छाया के पीछे दौड़ कर किस ने शान्ति पाई है। तन विवशता से दिया भी जा सकता है, किन्तु मन तो अपना और केवल अपना। अतः जैनेन्द्र जी की प्रेयसियां हमारे समक्ष एक विचारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, चाहे वह दार्शनिकता से बोझिल हो। शरत् की तरह असद् पात्र भी जैनेन्द्र के लिए सम्पूर्ण सहानुभूति के पात्र हैं। उन के शब्दों में—"सभी पात्रों को मैं ने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है और कौन है जो अच्छा ही अच्छा है।"

इस भूमिका के समक्ष 'परख' पर्याप्त भारी हो कर सामने आई। कट्टो परख का प्राण एवं निष्कर्ष है। कट्टो विधवा है, उस का विवाह करना होगा। सत्य धन उस के लिए बिहारी को तैयार करता है तथा निर्णय करता है कि गरिमा को स्वीकार कर कट्टो को भूल जाएगा। 'परख' की समस्या अमीरी के प्रति वितृष्णा की समस्या है, विधवा विवाह की नहीं। कट्टो बिहारी के साथ कर्तव्य सूत्र में बंध सकती है। पूजा का निर्माल्य बन सकती है। वह चिर-वैधव्य में बंध आत्माहूत होने को तत्पर है। अंबर में अपने मास्टर के पैर टटोल कर वह अश्रु जल से खूब ही अभिषिक्त करती है। वह बचपन के काम नहीं आई तो हुई ही

क्या ? समर्पणमयी कट्टो से बच कर सत्यधन कहाँ जा सकेगा ? कट्टो उस के प्रेम की बात जान चालीस हजार रुपये भेंट कर जाती है । धन का आवरण किस प्रकार व्यक्ति को प्रेम की प्राप्ति से रोकता है यह परख की मर्म-स्थिति है । कट्टो अपना सुहाग गरिमा को भेंट कर देती है । मन में परिणीता कट्टो क्या तन से और की हो सकती है ?

(सुनीता जैनेन्द्र जी का दूसरा श्रेष्ठ उपन्यास है । इस में उन्हों ने एक अत्यन्त रम्य, अकल्पित एवं अव्यावहारिक आदर्श की सृष्टि की है । सुनीता युवती पत्नी तथा श्रीकान्त उस के पतिदेव हैं । पति के मित्र नवयुवक हरिप्रसन्न का आगमन होता है उसे एक गुप्त क्रांतिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध कर के । समस्या प्रस्तुत है, पर्दा-रहित परिवार में पर-पुरुष प्रवेश । पत्नी का धर्म जो तलवार की धार पर चलता है, यही उस की परख है । सुनीता पति में ही नहीं वह स्वयं भी है । रवीन्द्र का 'घरे बाहरे' नारी को प्रेरणामयी घोषित करता है । सुनीता का पति प्रेम भी इसी प्रकार लांछित न हो कर चमत्कार बना है । हरिप्रसन्न के अन्तर की ग्रन्थि उसे मार रही थी सुनीता ने उसका उन्मथन किया । सुनीता को नग्न दिखा तथा हरिप्रसन्न के मन में विरक्ति जागृत कर जैनेन्द्र जी ने मनोविज्ञान के एक अछूते तथ्य का स्पर्श किया है । कलाकार किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाए तो बड़ी शक्ति बन जाता है । अन्तर्द्वन्द्व से परे सतीत्व की दुर्गम्य ऊंचाइयों पर पहुंच सुनीता इस तरह के समस्त समर्पण करती है ।)

('त्यागपत्र' जैनेन्द्र जी का सब से प्रसिद्ध और विवादग्रस्त उपन्यास है । इस का अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है । मृणाल का अपनी भाभी के भाई के प्रति आकर्षण है और उस का विवाह एक ऐसे व्यक्ति से कर दिया जाता है, जो आयु में उस से बहुत बड़ा है और विशेष पढ़ा-लिखा भी नहीं । परिणाम में दुखी मृणाल तिल-तिल कर गलती रही और अतीता अमोघ अभी छोड़ कर उस सत्य के तेज से अपने को बचाए रहा । अन्त में हृदय की प्रेरणा के परिणामस्वरूप उस ने त्यागपत्र दे दिया) पर यह किस समस्या का समाधान है ? मृणाल का आत्मपीड़न मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि बन गया है । उन्मन मन को प्रम मान कर ही मृणाल ने पतनगामी पथ स्वीकार किया । जो स्वाभाविक है वही सत्य है और जो सत्य है उस की उपेक्षा कहाँ सम्भव है ? आँख मींच कर दूर पटक देने से देखने की इच्छा तो नहीं मिट सकती अतः मृणाल पापिष्ठा नहीं । पत्नीत्व की वेदी पर उस के प्रेम का बलिदान हुआ है । समाज से अलग रह उस की मंगलाकांक्षा में वह टूटती रही । मृणाल स्वयं गिर कर अमोद को ऊंचा उठाना चाहती है । पीड़ा मानव जीवन को सार्थक बनाती है, यह गांधीवादी दर्शन इस सामाजिक निपीड़न

की कथा में स्पष्ट है। हेमलेट के 'टु बी आर नाट टु बी' के सदृश मृणाल भी नियति के आगे किंकर्तव्यविमूढ़ है।

'कल्याणी' जैनेन्द्र का परम्परागत उपन्यास है। महत्त्वाकांक्षिणी युवती कल्याणी इंग्लैंड में डाक्टरी पढ़ने जाती है। और हृदय का अन्यतम भाव समर्पित कर देती है एक प्रीमिमम बनने वाले तरुण को। भारत लौटने पर डाक्टर असरानी की मूर्खता का शिकार हो उन से विवाह करने पर वह विवश होती है। डाक्टर की प्रेक्टिस नहीं चलती अतः डाक्टरी मिसेज के द्वारा चलाई जाती है। परन्तु वह खुल कर विद्रोह नहीं कर पाती इस का मूल कारण है परिमार्जित मध्य वर्ग का जीवन। मृणाल सामान्य है पर कल्याणी बिना मर्म से दीप्त चीख कर पूछती है—"तुम साफ-साफ कह क्यों नहीं देते कि तुम क्या चाहते हो? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो तो वह हो तो रहा है।" विवाह व्यवस्था है और उसे एक बार स्वीकार कर लेने पर मुक्ति नहीं है, इसी से मूक कल्याणी टूटती जाती है। अन्त में बालक को जन्म दे न वह स्वयं बच पाती है न नवजातक शिशु। घटनाओं द्वारा दमित प्रेम का विस्फोट कर अपनी पति स्वतंत्र [illegible] और अपनी स्थिति के प्रति निरन्तर विद्रोह है मानो कल्याणी।

'सुखदा' से जैनेन्द्र के उपन्यासों का दूसरा युग आरम्भ होता है। कहानी कान्त सुखदा और लाल के त्रिकोण पर आधारित है। पति कान्त की सहिष्णुता को सुखदा क्लीवता मानती है उस का विद्रोह सफल होता है तथा वह क्रान्ति दल की प्रमुख अभिनेत्री हो लाल के विलास-कक्ष में रहने लगती है। वह नारी तत्त्व दे कर भी लाल को बचाना चाहती है और लाल का आत्मबोध जाग्रत होता है। सुखदा मन से पापिनी है तन से नहीं। यह नारी के बहिर्गमन की कथा है। घर के बाहर यदि उस की स्थिति हो तो घर क्या रह जाएगा यहाँ बुद्धि चीखती है पर हृदय रोता है।

'विवर्त' में मोहिनी विवाह के पूर्व ही जितेन की हो गई है। वह स्वयं को उसे सौंपना चाहती है पर बीच में आती है अमीरी। अतः वह बैरिस्टर नरेश की पत्नी बन जाती है। जितेन कहता है—"तुम ठहरीं अमीरजादी मैं मेहनत करके खाता हूं। पाई-पाई पसीने के बल मुझे कमानी होती है।" प्रश्न है कि क्या मोहिनी जितेन से माँग स्वयं को नहीं छलती? जितेन असीम कुण्ठाओं और विवर्त में बंधा है।

'व्यतीत' की कथा अनिता जयन्त और मिस्टर पुरी को ले कर चलती है। जयन्त के मालिक की पुत्री सुमित्रा पैसे के नाम पर उस का प्रेम खरीदना चाहती है। अनिता मानो ज्वालामुखी पर बैठी है जयन्त ही उस का छोर है जब कि

वह पत्नी है मि० पुरी की। बसन्त चन्द्री से विवाह कर लेता है, पर मन नहीं दे पाता। बसन्त किसी को नहीं पा सका। यह क्या पराजय नहीं ? प्रमिता की तटस्थता और अनासक्ति प्राप्य प्रवंचना है।

'जयवर्द्धन' के प्रारम्भ में लेखक ने शंका प्रकट की है कि कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा। उपन्यास द्रष्टा पात्र की डायरी के रूप में है। जयवर्द्धन तथा इला के प्रेम-सम्बन्ध की वैधता-अवैधता काम मूलक विरोधी राजनीति का प्रश्न बन गया है। आचार्य के द्वारा पाली गई तथा मातृहीन इला जयवर्द्धन पर मुग्ध है और अविवाहित रह कर ही उस के साथ रहती है। लिजा नाम से दूर भाग जयवर्द्धन के पास आती है पर इला को ईर्ष्या नहीं। अन्त में जयवर्द्धन चला जाता है। विचारों के बोझ से यह उपन्यास दबा हुआ है।

'तपोभूमि' की धारिणी दुर्बल प्रेमी नवीन से विवश होने पर भी, त्राण नहीं पाती और गंगा में डूबने के बाद काशी में वेश्या हो जाती है।

(जैनेन्द्र जी ने जब लेखन प्रारम्भ किया था उस समय नारी ज्योति की तन्वी मानी जाती थी। वास्तव में २०वीं शताब्दी नारी-जागरण और उस की मुक्ति का समय रहा है। जैनेन्द्र जी की प्रेमसियां मूल रूप में बलिदानमयी, भावनामयी तथा प्रेममयी हैं जो विवाह-बंधन में बंध कर भी प्रेम के प्रकृत आकर्षण को स्वीकार नहीं कर पाती हैं और इस दुर्बलता या सार्थकता के कारण अपना जीवन नष्ट कर लेती हैं। जैनेन्द्र जी का समाधान है नारी पति को पत्नीत्व दे कर भी प्रेमी को स्नेह तो दे ही सकती है, पर इस में औचित्य कहां है ? मन के साथ तन भी लगा है, अतः केवल मानसिक स्नेह किसी को कुछ तक तुष्टि दे सकेगा। रवीन्द्र और शरत् नारी की इस दुविधापूर्ण स्थिति को स्वाभाविक मानते हैं जैनेन्द्र अनुगामिता।)

स्वयं अपनी दृष्टि में

—जैनेन्द्र

प्रश्न है कि मैं ने उपन्यास वगैरह में जो लिखा है सो क्या अपने ऊपर लिखा है ? जो देखा और भुगता है उसी के आधार पर लिखा है ?

नहीं ठीक-ठीक अपने 'पर' नहीं लिखा है । हां 'अपने को' अवश्य लिखा है ।

इन दोनों में जो अन्तर है उस को तनिक खोलने की आवश्यकता है । मेरी आप बीती मेरा बहुत थोड़ा अंश है, वह बहुत सीमित है । इतने वर्षों में जो मेरे साथ हुआ है उतना ही नहीं उस में से भी जो याद में बचा रह गया है वही मेरी आप-बीती है । सृष्टि इस स्मृति के परति के भरोसे हो सकती है इस की सम्भावना कम है । मेरा भोगा और भुगता थोड़ा ही हो सकता है अधिक तो वह ही है जो उस से बाहर रह जाता है । आखिर में असंख्य अनन्त में मैं एक हो कर कितना कुछ भोग पा सकता हूं ? वह पूंजी अनिवार्यतः बहुत थोड़ी और उथली ही होती है ।

यह भी लगता है कि वह सामग्री उतनी विश्वसनीय नहीं है । विश्वसनीय इसलिए नहीं कि स्मृति और रुचि भी अपना खेल उस के साथ खेला करती है, कुछ उस को प्रिय मान कर अपने पास रोक लेती है, कुछ अन्य अप्रिय को बिसार देती है । इस में यथार्थ ज्यों का त्यों सुरक्षित रह नहीं पाता कुछ निर्जीव का भी समावेश हो जाता है । स्मृति के तन्तु-जाल प्रिय के कण को पुन-कल्पा कर बृहत् आकार दे सकते हैं जब कि घटनात्मक रूप में कुछ बहुत-बहुत भी घटा हो तो उस का एक दम शून्य कर डाल सकते हैं । रुचि-स्मृति का यह तमाशा अपनी ही आप-बीति को मनमाना कर दे जाता है ।

मालूम होता है कि घटना को पकड़ने के लिए हमारे पास जो भी ज्ञापन है, घटित का रूप उस पर निर्भर करता है । ज्ञान और संवेदन के तन्तुओं से हम उस को ग्रहण करते हैं । इसलिए एक स्थान और एक समय पर हुई घटना का वर्णन अनेक जन अनेक प्रकार किए बिना नहीं रह सकते । किन्हीं दो का वर्णन

एक नहीं हो पाता। कारण यह वर्णन जितना घटना का होता है उतना ही वर्णन करने वाले का भी होता है।

यह तो हुआ 'अपने पर'। अब 'अपने को'।

मुझ पर बीता जब सीमित है, घटना से सीमित और स्मृति से सीमित है, तब स्वयं 'मैं' उतना ही सीमित नहीं हूं। कारण शेष जितना बचा रह जाता है उस से मैं भावना कामना और कल्पना का सम्बन्ध बनाने को स्वतन्त्र हूं। इस सब के सहारे मैं असीम हो जाता हूं। मेरा अनुभव सीमित हो सकता है, पर स्वप्न उस सीमा को मान कर इधर ही कैसे ठहर सकता है। सो स्वप्नशील कल्पना के सहारे मैं तमाम काल अवकाश में विहरण कर सकता हूं। घटित जब कि मेरे साथ स्वल्प और सीमित है तब अघटित सारा का सारा सम्भावना काक के रूप में मेरे भीतर क्रीड़ा करता रह सकता है।

प्रतीत होता है कि सृजन का कार्य इन सम्भावनाओं के बलत में से अपनी अधिक प्रेरणा प्राप्त करता है। तथ्य थोड़ा बहुत काम दे सकता है पर उस ठोस यथार्थ से जो स्वप्न को गति मिल जाती है, तथ्य का मुख्य दान है तो वह है। तथ्य मनुष्य के संवेदन पर आघात दे कर नाना तरंगों को जन्म देता है। अनन्त विकल्प और अनुमानों की सृष्टि उस से होती है। अधिकांश ये लहरें तथ्य से स्वतन्त्र हो जाती हैं। हुआ वह तो अमुक रूप था जो हो सकता था उस के रूपों का अन्त नहीं रहता। बस ये लहरें उन अनन्त सम्भावनाओं की ओर बढ़ने लगती हैं मानो वहां व्यक्ति अपनी मुक्ति अनुभव करता है। कर्म बन्धन है स्वप्न में पहुंच कर उसे मोक्ष का लाभ होता लगता है।

तथ्य घटनात्मक और कथात्मक है। उस की सम्भावनाएं समाप्त हो चुकी हैं। जो है उतना ही है। ऐसे तथ्य सर्वथा निश्चित और व्यतीत हैं। मानो वह चुक गया है। देना था वह दे चुका है और अब रीतता बन गया है। यह जो आने वाला क्षण है सब तरह की सम्भावनाओं से भरा तो वह है। तथ्य वह नहीं है, इस लिये उस से हमारा सम्बन्ध तीव्रतर आकांक्षा और घनिष्ठता का होता है। वहां सब कर्तव्य और सृजन की सम्भावनाएं भरी हुई रहती हैं।

मेरे अपने साथ उपन्यास-लेखक की हैसियत से यही घटित होता रहा है। पहला उपन्यास था मेरा 'परख'। उस में स्पष्ट आप-बीती का प्रभाव है। किन्तु प्रभाव इस रूप में कि वहां से कथा उठ पड़ी है। उस कथा को गति जो मिली है सो घटित तथ्य के आधार पर कैसे मिल सकती थी? घटित ने तो पट का काम कर दिया है। पर कर फिर क्रिया चलती है कथा गति के बिना तो चलती नहीं है। क्या हुआ फिर क्या हुआ उस के बाद क्या हुआ। इस तरह कथा को

सम्भावनाओं में आगे अपनी राह खोजते चलना पड़ता है। 'परख' में आप-बीती के खण्ड से प्रारम्भ करके इन सम्भावनाओं में से तर्क विचार के सहारे-सहारे मैं आगे बढ़ता गया हूं। उसी में से 'परख' की कथासृष्टि होती गई है। नाना पात्र उसी मूल विचार में से अवतार पाते गए हैं। उन के मानात्व के प्रभाव में सम्भावनाओं के वेग को चित्रित किया नहीं जा सकता था।

तो 'अपने को' देने या पाने की कोशिश में जो मेरा उपन्यास बना है उस में अपने पर' बीता यदि आया भी है तो सामग्री की भांति उपयोग में आ गया है। उस से अधिक महत्व उसे नहीं मिल सका है। इस कारण नहीं कि मैं अपने घटित की अवज्ञा करना चाहता था बल्कि अधिक इस कारण कि मैं अपने को उतना ही मान नहीं सकता था। दूसरे शब्दों में कहें तो भोक्ता मुझ में प्रधान नहीं बन सकता था उसके ऊपर द्रष्टा और ज्ञाता ही प्रधान बन जाता था। जिस ने भुगता है वह तो निमित्त ही रह जाता था उस को बनाने के लिए मानो ऊपर वह हो जाता था जो भोग से बंधता नहीं है, जो उस को देखता और जानता है।

जितना विचार करता हूं इस घटना पर उतना ही विचित्र मालूम होता है। इसलिए कभी यह भी लगता है कि लिखना आध्यात्मिक अभ्यास का काम दे सकता है। मानसोपचार में जो यह कहा जाता है कि अवचेतन को चेतन में लाने मात्र से रोग की ग्रंथि खुल जाती है सो बात कुछ समझ में आती है। द्रष्टा हम हो जाएं और अपने ही भोक्ता को सर्वथा दृश्य का रूप दे सकें तो जान पड़ता है कि ऐसे एक दिन भोक्ता का उत्पात कम होने लग जाएगा और द्रष्टा स्वाधीन बनेगा। भोक्ता उस से स्वतंत्र और निरंकुश आचरण कर नहीं सकेगा।

वह जो हो उपन्यासकार की हैसियत से मेरा काम आप-बीती से बिलकुल नहीं चला है। यदा-कदा और यत्र-तत्र उस के खण्ड काम आ गए हैं तो आ गए हैं दृष्ट और केन्द्र का रूप उन्हें कभी मैं नहीं दे पाया हूं। पहला उपन्यास मेरा 'परख' है। पहला है इसलिए अपने से बहुत दूर जाने की मुझे वहां सूझ ही नहीं सकती थी। एकदम आप-बीती से वह शुरू हो गया है, लेकिन चला विचार में से है। मेरे मन में उस समय भी एक परिणाम बन कर स्पष्ट होता जा रहा था वह यह कि आदर्शवाद काम नहीं देता है। आदर्श के नाम पर अपने ही मनोरथों को हम सामने टांग लेते हैं पांव लेकिन परिस्थिति की धरती पर चलते हैं। इस तरह समय आता है कि अपने को स्वीकार करने में आदर्श के साथ हमें समझौता करना पड़ता है। परिणाम एक मिथ्याचार होता है। अतः जान पड़ा कि शायद जीवन में वह अधिक स्थिर और सफल हो सकता है जो प्रसन्न स्वीकारिता से

चलता है आदर्श के बावे को कंधों पर ऊंचा उठा कर चलता हुआ नहीं दीखता। इस परिणाम पर पहुंचते हुए विचार के हाथ में आप-बीती से मिली परिस्थिति पड़ गई, उस में से कथा को जो मोड़-तोड़ मिलता चला गया सो चला गया। अन्त में कुल मिला कर जो 'परख' बनी उस से मानो यह विचार परिपुष्ट होता हुआ दीखा। सत्यधन महाशय जो कथा के प्रारम्भ में नायक के रूप में अवतार पाते गए, आगे व्यर्थ हुए और बिहारी नाम के अन्य बन्धु कृत-कार्य बने। बिहारी यहां सर्वथा कल्पना में से बन आए हैं और गरिमा भी आप-बीती के आसपास से नहीं उपजी है। इन दोनों चरित्रों की सृष्टि आवश्यक यदि हुई तो आप-बीती के निमित्त से नहीं बल्कि सर्वथा उस मूल विचार के कारण जिस की सम्पन्नता की ओर कथा-वस्तु को बढ़ते और उठते जाना था।

दूसरा उपन्यास मेरा है 'सुनीता'। कथा का प्रारम्भ वहां भी आप-बीती नहीं तो आप-देखी में से हो गया है। लेकिन वह हुआ तब जब इसी प्रकार का एक विचार, या कहना चाहिए प्रश्न लेखक के मन में उदित हुआ और उस के लिए कथा की आवश्यकता हुई। सुनीता की सारी कथा तद्विचाराधीन कल्पना के आधार बुनती गई है। इतना ही है कि कल्पना मनमानी नहीं चली है तर्क के साथ-साथ आगे बढ़ी है। ऐसे यथार्थता के उपादानों का संचय अवश्य करती गई है, लेकिन उन की रक्षा के प्रति कथा ने अपना दायित्व नहीं स्वीकार किया है। (यहां तक कि तर्क सामाजिक यथार्थ की सम्भावनाओं को पार कर गया है। बहुत ऊहापोह हुआ है उस रचना पर। खास कर नग्नता के प्रसंग पर जहां पुस्तक का विचार एक परिसमाप्ति पर आया मालूम होता है। उपन्यासकार की हैसियत से मैं ने अपना धर्म घटना पर रुक जाना नहीं माना है। कारण घटना में से अपने आप में मैं प्रेरणा ही नहीं पा सकता हूं। अनुमानित सम्भावनाएं मुझ से खिचती रही हैं और उन्हीं के आधार पर अमुक कथा-वस्तु को ले कर मैं रचना करता चला गया हूं। उस प्रकार की सूझ पास न हो तो मेरा काम आरम्भ ही नहीं हो पाता। इसलिए 'सुनीता' में मैं ने कहीं सामाजिक यथार्थ का अतिक्रमण किया है तो उस में कुछ अयुक्त मुझे नहीं प्रतीत हुआ है। आज भी उस सम्बन्ध में पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।)

रवीन्द्रनाथ के 'चार अध्याय' की यहां याद की जा सकती है। सुनीता में उसका भी किंचित योग रहा है। रवीन्द्रनाथ ने सामाजिक यथार्थ की अपनी रचना में मानो रक्षा की है जिससे टूटी नहीं है। पत्नी द्वारा पश्चात्ताप कराया गया है और जो नायक महिमामय रूप में कथा के आरम्भ में अवतरित हुआ है अन्त की ओर वह ही स्खलित और परास्त हो कर मुंह बचा कर भाग जाता

पड़ा है। गिरस्ती तो सुनीता में भी नहीं टूटी है, लेकिन जिस भाँति उस की रक्षा हुई है वह पलायन का प्रकार नहीं है। 'चार अध्याय' पढ़ते मुझे प्रतीत हुआ था कि समस्या-निदान की दृष्टि से उस में पूरा न्याय नहीं हो सका है। सुनीता में उस समस्या-विचार को ले कर मैं बीच में रुकने को तैयार नहीं था न पक्ष मन अपना सकता था। इसलिए हठात् कथा को वहां तक बढ़ाता चला गया वहां तक तर्क का छोर जाता था। यह सब प्रक्रिया जिस आधार पर सम्भव बन सकी वह भुक्त भोग की अनुभूति नहीं हो सकती थी। वहां तो कल्पना और चिन्तन का ही सहारा था।

उस के बाद 'त्यागपत्र' में भी यही है। यहां से वहां तक वह कथा विशुद्ध कल्पना पर खड़ी है। आप-बीती के तत्त्व छिटके-फुटके रूप में यहां-वहां देखे जा सकते हैं पर वे कथा के कलेवर में मकान में ईंट की तरह, चिनाई के काम आ गए हैं बस इस से अधिक अर्थ वहां उन का नहीं है। सारी कथा अन्त में जैसे यह कहने की ओर बढ़ती जाती है कि अपने दुख-दर्द में से मिलते प्रकाश को अस्वीकार करके जब हम महत्वाकांक्षा में उठते-बढ़ते चले जाते हैं तब यह जीवन का और व्यक्तित्व का सही विकास नहीं है उस में मुक्ति और पूर्णता नहीं है। उस में केवल अभिमान का पोषण है, जिस में शायद आत्मा का शोषण समाया रहता है। कथा कहने वाला वहां न्यायाधीश है, आप-बीती के रूप में वह अपने जीवन पर विचार करता है और अन्त में त्यागपत्र देता है। कथा के उस पट को घेरे हुए जो उस की बुआ मृणाल है उस का चरित्र सामान्य आँखों से नहीं उस 'न्यायाधीश' की आँखों से देखा गया है जो सम्वेदन में से घुल कर गिरा-बीरो-बाल हो आया है और इसलिए सच में अपना ही न्यायाधीश है। इस न्याय विचार में ही सामान्य यथार्थ की सीमाओं पर रुकना नहीं हो सका है। | [1])

शेष अपने एक-एक उपन्यास की चर्चा करने की यहां जगह नहीं, आवश्यकता भी नहीं है। मैं ने लिखा थोड़ा है और सच यह कि उपन्यास के संबन्ध में कभी कुछ जाना नहीं है। हो सकता है कि उपन्यास मेरे उपन्यास हों ही नहीं मनमर्जत कुछ ऐसी रचनाएं हों जिन को उपन्यास की श्रेणी में कृपापूर्वक ही सम्मिलित किया जा सकता हो। जो भी हो मेरे साथ आप-बीती प्रमुख नहीं रही है, कल्पना प्रमुख रही है जो कथा को आगे बढ़ा कर उसे स्वरूप देती चली गई है। यहां तक कि अन्तिम उपन्यास 'जयवर्धन' इस कदर कोरा गढ़ंत है कि हद नहीं। वहां काल-देश की तनिक यथार्थता नहीं है पात्र और चरित्र सब कल्पित और कृत्रिम हैं। शाह और जमादार के जीवन-यथार्थ की भूमिका पर विचरते नहीं मालूम होते हैं। उपन्यासकार की हैसियत से शायद यह असम्य

हो सकता है और मुझ से क्षमा की प्रार्थना की अपेक्षा रखी जा सकती है। लेकिन उपन्यास मेरे लिए इष्ट था नहीं है, वहीं कोरा निमित्त है। और यह स्वीकार करने में मुझे तनिक असुविधा और दुविधा नहीं जान पड़ती कि मेरा या संसार का अनुभव मेरे लिखने में उतना नहीं है जितना कि एक तत्वाश्रित अनुमानचार है।

वास्तव में मैं बहुत सजीव कभी न था। फैली कहानियों पर कान न दीजिए। कहानियों में कुछ का कुछ बन जाया करता है। मैं खुद भी तो कहानियां गढ़ता था। इस से कहानियों के फरेब को समझता था। किसी कदर उन कहानियों के फरेब पर जिन्दा भी रहता था। कहा करता था कि मेरी लिखाई से लोग मुझे नेक तक मान लेते हैं। चलो अच्छा है, ऐसे नेकी फैलती है और बदी मुझ तक सिमटी रहती है। लेकिन इस लीपा-पोती के बावजूद मैं आप से मान लेने को कहता हूं कि आदमी वह एकदम बुरा न था। एक तो वजह यह कि असल में आदमी कोई भी बुरा नहीं होता। दूसरा यह कि जानते-बूझते कोशिश मेरी बदी से बचने की रहती थी जैसे कि हर इन्सान की रहती है।

शुरू से मुझ में इरादे की ताकत की कमी देखी जा सकती है। मैं किस्मत बनाने वालों में से न था किस्मत ही मुझे बनाती गई। जिन्दगी में मेरी कोई कारगुजारी नजर नहीं आती।

मैंने ज्यादा लिखा भी नहीं जिस की वजह आदमी जानना चाहेगा। क्या यह कहना ज्यादा होगा कि आपते वक्त को पकड़ने लायक जान और फुरती मेरे दिमाग में न थी? या यह कहा जाए कि मेरे अन्दर का जखीरा ही थोड़ा था? पर इतना सही है कि जो लिखा औसतन अच्छा लिखा। भाषा का मुझे खास ज्ञान न था इस से शुरू में मेरी भाषा अटपटी समझी गई। पर आगे जा कर यह अज्ञान शायद भला साबित हुआ क्योंकि इस से भाषा के जरूरत से ज्यादा दुरुस्त होने का खतरा भी नहीं रहा। आम शिकायत है और ठीक है, कि जो पुरजवानी ताजगी और सजावट शुरू में देखने में आई वह मेरे लिखने में पीछे न रही। रवानी कम चली ताजगी थक गई और खुश नुमा सजावट को जगह कहीं उपलब्ध नहीं हो पाती। पड़ोसी को छोड़ दें तो समाज की कोई स्थिति बनती है ऐसा भी मुझे नहीं लगता। तब यदि वह है तो इसी अर्थ में कि जैसे देवता होता है—है भी नहीं भी है।

मैं सुधार या संशोधन की प्रेरणा को स्वीकार नहीं करता। मुझे यह स्वार्थ की भाषा जान पड़ती है। स्वार्थ से मुझे चिढ़ नहीं लेकिन अगर वह हो तो उस पर नकाब डालने की क्या जरूरत है? इसलिए सामाजिक या राजनीत

सारा मार्क्सवाद मुझे सिर्फ थोथा जान पड़ता है ।

मैं कोई सेवा भी करना नहीं चाहता हूं । हर उपकार पीछे अपकार बन जाता है । इसलिए अपनी रचनाओं द्वारा किसी सिद्धान्त या मत या अभीष्ट का प्रचार चाहूं तो लगता है यह अहंकार का प्रचार है । मैं तो अपने को सब का सब उंडेल फेंकना चाहता हूं ।

यह न पूछिए कि मैं लिखता हूं तो शुरू कैसे करता हूं । पहले सोचता रह जाता था और शुरू हो ही न पाता था । तब अन्त में घड़ी सामने रखी और प्रण किया कि सैकण्ड की सूई पूरे मिनट पर आई कि कलम को चल देना होगा । सूई उस कांटे पर आई और मैं लाचार हो गया । ऐसे सहारे की मुझे अब तक जरूरत रहती है । दूसरा कोई बैठे तो बार-बार बोलने को टाला तो नहीं जा सकता । बस तब पन्ने के आते ही एक वाक्य के बाद दूसरा और फिर तीसरा—इस तरह लिखते ही जाना पड़ता है ।

कहानी लिखता हूं तो मेरे मन में स्पष्ट कुछ नहीं होता । प्लाट तो होता ही नहीं । सिर्फ कहानी का अन्त कुछ-कुछ मन में रहता है । कभी विचार-बिन्दु के तो कभी भाव ग्रन्थि के रूप में । उस बिन्दु तक कैसे पहुंचा जाए, बस, इस में प्लाट-स्लाट जो होता ही बन रहता है । इस से ज्यादा कुछ मैं जानता नहीं और शिल्प आदि के बारे में सर्वथा बेभान हो कर लिखता रहा हूं । मुझे लगता है शिल्प में टेक्नीक जाना यह हुआ । जी हां ऐसा कई बार हुआ है कि अन्त कुछ मन में था और कहानी बीच में या कहीं और जा कर खत्म हो रही । मेरी एक कहानी 'पत्नी' नाम से यहां-वहां पाठ्य में या दूसरे संग्रहों में उद्धृत दीखती है । लिखते समय क्रान्तिकारी अपवर्तीकरण का ध्यान था जो अपने बम से आप ही जख्मी हो कर मर गए थे । सोचा था कि उन्हें क्रान्ति की धार से नहीं पत्नी की ओर से देखा जाए, तो देखें कैसे दीखते हैं । उस कल्पना को ले कर चला और किनारे तक भी न आ पाया था कि प्रेमचन्द का तकाजा पहुंचा कहानी भेजो । देखा कि पांच छः पन्ने तो बन ही गए हैं सो वे ही भेज दिए, जो छप गए । अब सुनता हूं कि वह 'परफेक्ट' स्टोरी है । खाक होगी परफेक्ट । अलबत्ता कैपिटल जो जानेगा वह कभी ऐसा न मानेगा ।

मेरे साथ और भी एक तमाशा हुआ है । तकाजे पर प्रेमचन्द को कहानी लिख भेजी 'सांप' । लेकिन एक दो हफ्ते बाद तार से फिर तामील आई । असल में कहानी उन्हें मिली नहीं थी । फिर बाद में उसी चीज़ पर कुछ लिख कर किसी दूसरी जगह भेज दिया । वहां अभी यह चीज़ छपी न थी कि अपने कागजों में प्रेमचन्द को 'सांप' कहानी मिल गई और फौरन उन्होंने 'हंस में

छाप दी। इस तरह आज भी उस कहानी के दो रूप मौजूद हैं। वे दोनों चीजें एक हैं, लेकिन रंग दो हैं।

अब मुझे अपने से डर रहता है। कुछ सामने आए, तो हमेशा बदलने को जी हुआ करता है। मन कभी अपने लिखे से भरता नहीं है और तसल्ली नहीं आती। ऐसे काटने-बदलने का सिलसिला चले तो उस का अन्त कहां है? इस लिए अक्सर मैं यह करता हूं कि जो लिख जाता हूं बस उसे आंख के सामने से हटा डालता हूं। मुझे इस आदत पर कभी पछताना नहीं पड़ा क्योंकि इधर मैं बोल कर ही लिखाता रहा हूं। इस से यह जरूर है कि कहीं हिज्जे की या भाषा की या पंक्चुएशन की गलती ज्यों की त्यों छप जाती है। लेकिन पाठक पर मेरा विश्वास है और मैं जानता हूं कि ऐसी छोटी-मोटी बाधाओं पर वह अटकेगा नहीं। लेकिन कई बार ऐसा हुआ है कि 'नहीं' बीच में से छूट गया है। अब कौन कष्ट करे कि आगे के संस्करणों में उसे शुद्ध करें? और ऐसी कई नहीं भूलें अब तक मेरी रचनाओं में चल रही हैं।

मैं क्या मानता हूं? सच यह कि जानना चाहता रहा हूं कि क्या मानूं। मानने लायक कुछ लगता ही नहीं है। वक्त सब को खा देता है और कीमतें बदलती हुई देखी जाती हैं। इस लिए जिस को बरबस मानना होता है उस दुःख को ही मैं सच मानता हूं। दुःख को जीवन का मूल सत्य घोषित करने में मालूम नहीं बुद्ध का क्या आशय रहा होगा। लेकिन मुझे दुःख तथ्य और दुःख निवृत्ति (परम सत्य) जान पड़ता है।

दुःख मुझ में सब से पहले अपने को ले कर है। उस के बाद बस परमात्मा को ले कर जहां 'मैं' नहीं रहता इसलिए कोई दुःख भी नहीं रहता। लेकिन परमात्मा को अपनी ओट में ओझल कर देने वाला तत्त्व पुरुष के लिए है स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष। इस तरह मेरे लिए वास्तविकता का त्रिभुज यह बन जाता है—(१) मैं (पुरुष अथवा स्त्री) (२) वह (स्त्री अथवा पुरुष), (३) परमेश्वर (न मैं न वह, या दोनों)।

इन तीनों के बीच सदा-सर्वदा जो उधेड़-बुन चला करती है, वही मेरी पूंजी है। उस गोरख धन्धे से कभी निकलना हो पाएगा ऐसी आशा मुझे नहीं है। इस लिए उस पूंजी में घटी होने की आशंका भी मुझे कभी नहीं होती है। मुझे बाहर के घटना के घटाटोप से कुछ अपेक्षा नहीं है। प्लाट की सामग्री के लिए मुझे बाहर देखने तक की भी नहीं सूझती है। जो हठात् आए दिन होता दीखता है उस में से मैं स्मृति के द्वारा कुछ भी अपने पास रोक रखने की ओट करने की या जुटाने की नहीं सोचता हूं। अगर सब भूलता चला जाऊं तो इस में

मुझे कष्ट नहीं होगा बल्कि अच्छा लगेगा। अपने जीवन में परमेश्वर के प्रति न मैं इतना हो पाता हूं न स्पष्ट हो पाता हूं। मुझ में अनुराग या विराग, प्रीति या भीति प्यार या नफरत पैदा होती रही और मुझ व्यथित एवं सम्पन्न करती रही है तो वह किस कारण वह अजब अब गौरव है। जानता हूं कि वह अजब बिल्कुल नहीं है। लेकिन मर्द हो कर शायद मैं अभिशप्त हूं कि वह मेरे लिए तिलस्म बनी रहे।

परम्परा से मैं प्रगति का विरोध नहीं देखता हूं। इस से प्रगति का प्रेम रखते हुए परम्परा के प्रति भी मैं अपने में आदर पाता हूं। मुझे विस्मय है उन लोगों पर जो परम्परा के उच्छेद से प्रगति का आरम्भ चाहते हैं। अभी एक जमाना बीता है जब प्रगति की बड़ी धूम थी। उस प्रगति में यही जोश था कि परम्परा को पहले उच्छिन्न करना होगा और तब प्रगति का सूत्रारम्भ होगा। उस जवानी प्रगति का क्या भाग्य हुआ सब जानते हैं। उस समय भी मैं ने चेतावनी दी थी कि परम्परा में से ही जो पुष्पित और फलित नहीं होती वह प्रगति नहीं है। मन का चाव उस में हो सकता है, या अकराव और अरमाव भी, टिकाव वहां नहीं होता। उठना उस में नहीं होता, बिखरना होता है।

ऐसी निष्ठा रखते हुए मैं स्वयं चकित हूं कि आलोचकों की दृष्टि में परम्परा-प्रियता को मैं चोट कैसे दे गया। मेरे मन में चोट थी नहीं है नहीं कभी होगी भी नहीं। लेकिन इतना अवश्य है कि वह परम्परा का भ्रम नहीं मोह है जो यहां और इस क्षण उस अनुक्रम की कड़ी को बन्द और समाप्त देखना चाहता है। अतीत से आज तक जो कड़ी हमें थामे रही है उस की सार्थकता इस में है कि भविष्य को भी थामती हुई वह आगे बढ़े। परम्परा को वह नहीं जानता, नहीं मानता, जो उसे अतीत से जड़ित और भावी से विहीन करता है। धर्म इसी से कालातीत है। वह नित्य है। विगत आगत और अनागत को भी एक कड़ी में थामता है वह धर्म है। धर्म इस तरह सदा हरा है। कभी वह सूखता नहीं है। संजीवन का तत्त्व उस में सदा लोच और लचक रखता है। जीवित में और शव में क्या अन्तर है—बस यही कि शव में से सम्भावनाएं मिट जाती हैं। सम्भावनाएं जिस में से खत्म हुईं, कहना चाहिए आत्मा ही वहां से उड़ गई। जीवंत परम्परा प्राणहीन नहीं होती। वह समाप्त नहीं होती। उस में नाना रूप और प्रकारों में जितने आगे की शक्ति प्रवाहित रहती है।

परम्परा का वह भ्रम जो उस प्रवाह को रोकता और बांधता है मति में मनमर्जी का हठ पैदा करता है। वह मति निरंकुश और मोमबत्ती होती है।

आज की धर्महीन मर्यादाहीन उच्छृंखल असंगति परम्परा के उसी जड़-राग के कारण है।)

स्रोत से धारा निकल कर बहते-बहते रुक जाती है तो क्या होता है। दल-दल बनती है, जोहड़ बन जाता है। धारा यदि बहती ही जाती है यहाँ तक कि जहाँ वह स्वयं सागर ही न हो जाए तो ऐसी गंगा के किनारे किनारे अनेक धाम और तीर्थ बनते हैं। उसी अस्खलित और अनवरत जीवन प्रवाह के मर्म सूत्र का नाम धर्म है। अन्यथा जब धर्म कूप से घिरा सम्प्रदाय बना दीखता है, तब ठीक यही घटित हुआ होता है। धर्म पर जब हम बलि जाते और निछावर होते हैं तब हमारे रक्त का अर्घ्य ले कर वह चरितार्थ और सम्पन्न होता है। अपने ही मोह में जब हम उसे घेर लेना चाहते हैं तब उसी में न्यस्त स्वार्थ की सड़ांध आने लगती है।

किन्तु यहाँ बात और कहनी थी। वह शब्द-शक्ति की बात। शब्द की शक्ति के उद्धार के साथ ही मानव-संस्कृति का उत्थान है। शब्द यदि तलवार से कुण्ठित होता है, लस्सा से, आवेश से, दबाव से धर्षित और अवरुद्ध किया जाता है तो उतनी ही संस्कृति की पराजय और बर्बरता की जय होती है। शब्द में प्रभाव कहाँ से आता है? उस प्रभाव का स्रोत हृदय और आत्मा है। जितने गहरे में से वह शब्द आएगा उतना ही प्रभावशाली होगा। गहराई स्नेह की, अनुभूति की। शब्द के प्रभाव से बचने या डरने की आवश्यकता नहीं है। यह आवश्यकता उसी को हो सकती है जो अन्तःकरण से विपरीत चलना चाहता है, जो उत्कृष्ट से बचना और अपकृष्ट से चिपटना चाहता है। शब्द के असर को जीतना बहुत आसान भी है। मधुरतर और गम्भीरतर शब्द से पहले का हल्का असर सहज ही धुल जाता है। अर्थात् शब्द की काट के लिए उपाय भी शब्द ही है।

इन सब लोगों को जिन की भावनाएं उत्कृष्ट हैं जिन के विचार महान् और सात्त्विक हैं चाहिए कि दूसरे और सब उपायों का अवलम्बन छोड़ दें। घृणा क्रोध या आवेश का दबाव डालने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं है। केवल शब्द का आयुध उन्हें बहुत होगा। स्निग्धतर, सौम्यतर, सत्यतर शब्द। शब्दों में अपना वक्तव्य समस्त न ला कर यदि वे दूसरी तिकड़म से काम करते हैं तो कैसे माना जाएगा कि भाव और विचार उन के उच्च और निर्मल हैं।

आज का संकट यही है। शब्द क्षीण हो रहा है। आत्म-विज्ञान के अभाव से और अहंवाद के दम्भों से जो वातावरण व्याप्त है शब्द-निष्ठा ही टूटी जा रही है। मन्त्रों की घोषों-विज्ञप्तियों की अखबारों की भरमार है। उस कोलाहल

में आवेश से हीन और प्रीति से मुक्त धर्म भावना से हो सकता है। फिर भी मानव का उद्धार धर्म के साथ है और श्रेष्ठ पुरुषों को चाहिए कि वे धर्म चाहे कम कहें पर वे करें जिन में सत्, स्नेह और संकल्प का बल हो।

जीवन में धर्म की श्रद्धा होना तो कठिन नहीं जान पड़ता। पर आदमी में जो काम और कामना है, कठिनता उस को ले कर होती है। पर काम और अर्थ ये ही असल पुरुषार्थ भी हैं। धर्म पूर्वक इन दो पुरुषार्थों का साधा जाए तो मोक्ष फलित होता कहा गया है। मेरा मानना है कि मूल मानवप्रवृत्ति प्रेम है। वह कट-बंट जाती है तो समस्या पैदा होती है। अर्थात् प्रेम यदि मानव में समग्र और संयुक्त हो सके तो उस से समाधान मिलना चाहिए। इसी को फिर चाहे योग कह दिया जाए। यानी अखण्ड प्रेम आत्मैक्य। अर्थ एवं काम का समाहार प्रेम से अन्यत्र कहीं नहीं है। इस समय अतीन्द्रिय प्रेम का नाम ही है अहिंसा। अहिंसा से मोक्ष है यह कहना मुझे अधिक सार्थक लगता है। सत्य बिना अहिंसा के असम्भव ही रहेगा।

विचार-धारा

इसका चयन भी स्वयं जैनेन्द्र जी ने किया है

लोक-शक्ति के लिए लोक-भाषा चाहिए

प्रश्न   क्या आप विश्वास रखते हैं कि हमारी सरकार अंग्रेजी को शिक्षा-पद्धति में से निकाल देने को उत्सुक है? क्या सचमुच वह भारतीय भाषाओं को उन का उचित स्थान देने के महत्व को महसूस करती है?

उत्तर   अपनी सरकार के बारे में अनुमान से काम लेना मैं नहीं चाहता। उस ओर से जो वक्तव्य आते हैं उन्हीं को ज्यों का त्यों मान कर क्यों न चला जाए। सच यह कि सरकारों में श्रद्धा नहीं हुआ करती। अपनी सरकार में तो संकल्प के बल तक का अभाव है। बहुत कुछ आगे आने वाले समय और लोक-स्थिति पर निर्भर करता है। यों देखने में भारतीयता ह्रास पर है, अंग्रेजियत बढ़ रही है। इस तरह अंग्रेजी का महत्व या उस भाषा की निर्भरता कम होती नहीं दीखती है। यों संसद् का निश्चय है कि सन् १९६५ से काम हिन्दी के द्वारा होने लगेगा लेकिन साथ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अंग्रेजी का उपयोग निषिद्ध नहीं ठहराया जाएगा और वह मानो दूसरी राजभाषा रहेगी। इस दूसरे निर्णय के साथ पहले वाले का क्या भविष्य है, यह देखने की ही बात है।

कांग्रेस सरकार में जनता के साथ एकाकार होने की कोई आतुरता नहीं दिखाई देती है। लोक-तन्त्र में वही सब से बड़ी प्रेरणा होनी चाहिए। मैं मानता हूं कि लोक-बल सही और सच्चे तौर पर शासन को नहीं प्राप्त होगा अगर उस का काम-काज लोक-भाषा और जन भाषा के द्वारा नहीं चलेगा। कांग्रेस की सरकार मानो अंग्रेजी पढ़े लिखे सविशेष के लोगों पर अपना ज्यादा विश्वास और भार रखती है। उस के बाद लोक-निर्भर और लोक-निष्ठ होने की चिन्ता से मानो वह मुक्त हो जाती है। नए चुनाव जब आएंगे तब सम्भव है कि कांग्रेसी लोगों को यह चिन्ता फिर सताने लगे और उन्हें यह अनुभव प्राप्त हो कि लोक शक्ति-सम्पादन की दृष्टि से लोक भाषा का अवलम्बन अनिवार्य है। लेकिन

सामान्यतया जो रुख है, उस को देखते हुए कांग्रेसी राज्य से हिन्दी या भारतीय भाषाओं के महत्व को अंग्रेजी से अधिक करने की दिशा में कुछ विशेष आशा नहीं रखी जा सकती।

प्रश्न क्या आप का विश्वास है कि उच्चतम तकनीकी शिक्षा के लिए भारतीय भाषाएं उपयोगी साबित हो सकेंगी? और, यदि अंग्रेजी को दूर किया गया तो भारत वैज्ञानिक क्षेत्र में संकीर्ण बना नहीं दीख पड़ेगा?

उत्तर यह झूठ है कि ज्ञान या विज्ञान अमुक भाषा से जुड़े हैं। भारतीय भाषाओं को हीन मानना असल में भारतीय जन और जनता को हीन मानने में से ही फलित होता है। यह अपने सम्बन्ध की अक्षमता हमें बड़ी महंगी पड़ रही है। कुछ पहले तक विज्ञान में रूस पिछड़ा था। आज सब से आगे है। तो क्या वहां वैज्ञानिक शिक्षा किसी विदेशी भाषा द्वारा दी जा रही गई थी। जापान पिछड़ा हुआ तो नहीं माना जा सकता। जापानी भाषा में यह क्षमता एकाएक कहां से आ गई कि वहां सब विज्ञान पहुंच गए, सिद्ध हो गए और जापान की प्रगति किसी से कम न रह गई? यह कोरा आत्म-दैन्य है, जो अपने दोष को भाषा पर डालता है और इस तरह विदेशी भाषा की दासता को छोड़ना नहीं चाहता। एक मोहम्मद साहब के बल-बूते पर अरबी भाषा में एक साथ चैतन्य और वैभव आ फूटा। पहले वह भाषा दीन और हीन बनी हुई थी। क्षमता या अक्षमता स्वयं भाषा में नहीं हुआ करती, उस भाषा के बोलने वालों की ही क्षमता या अक्षमता वहां प्रतिबिम्बित होती है। यह सब चर्चा कि इस या उस भाषा में तकनीकी या वैज्ञानिक या पारिभाषिक शब्दावलि नहीं है, अविश्वस्त मन की चर्चा है। उस पर जो अटकता है, वह मानो गतानुगतिक हो कर चलना चाहता है। उस में मौलिक श्रद्धा और चैतन्य नहीं है। मैं उस पर एक क्षण नहीं अटकना चाहता। देश के संकल्प-बल का क्यों हम ने आवाहन नहीं किया, क्यों स्वराज्य मिलने पर अंग्रेजी की परावलम्बिता को स्वीकार कर लिया? उस समय सब काम हम ने अनुवाद और अनुकरण द्वारा किया। संविधान दूसरे देशों के विधानों की नकल में मगर जोर-शोर के साथ हम ने तैयार किया। उठते हुए राष्ट्र की आत्म-श्रद्धा का बल थाम कर हम नहीं चले अन्यथा भारत एक अनोखी शक्ति का अग्रदूत बन सकता और आज की अन्तरराष्ट्रीयता के लिए एक मार्ग दर्शन दे सकता। पर अगर वैसा नहीं हुआ तो सिवा इस के क्या कहा जाए कि हमारे राजनीतिक भाग्य विधाता हीन विश्वास और अल्प-श्रद्धा के केवल काम काजी लोग निकले क्रान्तिकारी वे नहीं सिद्ध हुए।

पारिभाषिक शब्द किस भाषा में

प्रश्न — मानिए कि सरकार ने आप की बात को मान कर अंग्रेजी को आज ही समाप्त कर दिया। अब आप कौन-सी भारतीय भाषा में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेंगे? हिन्दी में करते हैं तो दक्षिण वाले इसे हिन्दी का साम्राज्य-वाद कहते हैं और मुसलमान इसे इस्लाम से अछूता मानते हैं। बंगाली भी हिन्दी को बंगला की महत्ता के लिए प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखते हैं। आखिर सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावलि चाहिए। इस समस्या का आप के पास क्या निदान है?

उत्तर — समस्या का निकाल या निपटारा तब होता और हो सकता है, जब तय हो कि वह हमें करना है। नहीं तो समस्या समस्या रहती है और हम को दबा लेती है। मुझे सब से पहले यही कहना है कि संकल्प से हम ने समस्या को बड़ा बना कर देखा। जो व्यक्ति या देश इस ढंग से चलता है वह नहीं बढ़ता उस की समस्याएं ही बढ़ती हैं।

आज संकल्प का अभाव

आज भाषावाद प्रान्तवाद जातिवाद छाया हुआ है। हम हैरान हैं। सन् बीस-बाईस और तीस-बत्तीस में स्थिति क्या थी? ये सब वाद क्यों अब उभरे और तब उन का बीज भी क्यों नजर न आता था? देश यों देखें तो काफी आगे बढ़ा है और राष्ट्र के बजट के अंक जाने कितने गुणानुगुणित हो गए हैं। लेकिन सच यह है कि तब एक अनुपम भाव-सम्पन्नता का हमें बोध था। अब एक विपन्नता का भाव घेरे हुए है। कारण यह कि आन्तरिक दैन्य हमारे भीतर समा गया है। हम परिस्थिति में से तर्क लेते हैं जो हमेशा प्रतिक्रिया का होता है। संकल्प में से अपने कदम का निर्णय नहीं करते जो प्रगति का हो सकता है। एक महद्भाव उस महात्मा से आ कर देश में भर गया था। उस समय देश वासियों को कुछ कठिन और असम्भव नहीं मालूम होता था। आज एक-एक बात नाना विकल्पों और विचारों से हमें घेर लेती है। मालूम होता है कि अंबर बड़ा है और हम छोटे हैं।

जीवन-प्रेरणा की मन्दता

हिन्दी और पारिभाषिक शब्दावलि की आप बात कहते हैं। कहते हैं कि दक्षिण और बंगाल हिन्दी को क्यों मानें? पारिभाषिक शब्दावली एक होनी]

चाहिए और वह एक कैसे बने ? इत्यादि-इत्यादि नाना प्रश्न पैदा किये जा सकते हैं और वहीं-का-वहीं गड़ कर बैठे रहा जा सकता है। उठने वाले देश इस ढंग से काम नहीं किया करते। पारिभाषिक और वैज्ञानिक पर्यायवाची शब्द अगर आज अनेक भी बनते हैं, तो क्या हर्ज है ? समय आने पर चुनाव और छंटाव हो जाएगा और अमुक को प्रामाणिक मान लिया जाएगा। लेकिन प्रश्न यह है कि हमें काम करना है या बात करनी है ? आज बिजली के कारीगर को बिजली कहीं लगानी होती है तो वह इस चक्कर में नहीं पड़ता कि वह पोज़िटिव-निगेटिव को क्या कहे ? क्या पर्याय शुद्ध और यथार्थ होगा ? वह "ठंडा और गर्म तार" कह कर अपना काम चला लेता है और रुकता नहीं है। हो सकता है कि गर्म और ठण्डा पोज़िटिव-निगेटिव का सही अनुवाद न हो। सही क्या है इस के निर्णय में आप समय लेना चाहें तो लेते रह सकते हैं। लेकिन असल चीज़ यह है कि वक्त पर काम रुकना नहीं चाहिए जो शब्दों के फेर में रोक रखा जाता है। इस में जीवन-प्रेरणा की मन्दता है इस के सिवा क्या कहा जा सकता है ?

अनुकरण का फैशन

मैं मानता हूँ कि ऊपर केन्द्रीय-सरकार में प्रश्न जो पहले शब्द का बन गया, काम का नहीं रहा तो यह मन्द-श्रद्धा का ही परिणाम था। आप कोश बनाइए और बनाते चले जाइए। कभी इस बोझ से आप को छुटकारा नहीं मिल सकता कि अनेकानेक शब्द इस बीच ऐसे आ बने हैं, जिन का पर्याय आप के पास नहीं है। अनन्त काल तक आप सब शब्दों को अपनी भाषा में लाने में सफल नहीं हो सकते। अगर भाषा की सामर्थ्य इसी पर निर्भर रहेगी और आप उस भाषा में काम चलाने को इस शर्त पर स्थगित करते रहेंगे, तो आप बंधे रह जाएंगे भाषा रुकी रह जाएगी और ज़माना आप को छोड़ता हुआ ऊपर से निकलता चला जाएगा। या आप अनुकरण-प्रियता में ही मग्न हुए रहेंगे और अपनी आत्मा और अन्तरंगता से बिछुड़े बने रह जाएंगे। अंग्रेज़ी को थाम कर भारत उसी अनुकरण प्रियता में बह रहा है और अपनी आत्मा से हीन और वियुक्त बना जा रहा है। इसी विहीनता का यह तर्क है कि क्या करें, हम दीन हैं, हमारी भाषा दीन है। नकल करने और उधार करने के सिवा हमारे लिए और गति नहीं है।

ज्ञान-विज्ञान एक भाषा से बंधित नहीं

निश्चय रखना चाहिए कि ज्ञान-विज्ञान समूची मनुष्य-जाति की निधि और

स्वत्व है और देश या भाषा की बपौती उस पर नहीं होती। अमुक देश या भाषा में वह उपलब्ध या प्रकट हुआ हो सकता है लेकिन उस भाषा-देश से वह बद्ध नहीं होता। अपनी अपनी भाषा द्वारा सब लोग अनायास उस का लाभ और सार प्राप्त करते और उसे आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता। वह भाषा नहीं बल्कि वे लोग ही पराधीन हैं, जो उस को सीधे लेने में असमर्थ हैं और ज्ञान से अधिक उस के परिवेश को महत्व देते हैं। शब्दों को पहले सीखने और फिर अनुवाद द्वारा ज्ञान तक पहुंचने की पद्धति अवैज्ञानिक और अकार्यकारी है। बच्चों को ही हम देखें कि भाषा उन्हें कोई नहीं सिखाता और वे अनायास सीख जाते हैं। कारण, भाषा को अलग-अलग शब्दों-शब्दार्थों द्वारा वे ग्रहण नहीं करते जीवनोपयोग द्वारा लेते हैं। ऐसे ही ज्ञान को अलग-अलग शब्दों से बद्ध हम मान लेते हैं तो उस की कठिनाई पर अटक जाते हैं और आदान-प्रदान की गति अवरुद्ध हो जाती है। सरकार को इस शब्द-तर्क से इसलिए फिरना और मन्द पड़ जाना हुआ कि उस के पास श्रद्धा-संकल्प का सबल नष्ट हो चुका था और आज स्वराज्य के चौदह वर्षों के बाद भी अनुभव होता है कि अगर स्वराज्य का किंचित् भोग्य भारत को प्राप्त है तो वह अंग्रेजी खास वर्ग को ही प्राप्त है शेष तो एक दम कोरे रह गए हैं। स्वराज्य की यह पराधीनता सचमुच बहुत शोचनीय है और तनिक दबाव पड़ते ही अंग्रेजी के समाधान में बच निकलने की आदत कम शोचनीय नहीं है।

प्रश्न शिक्षा-मन्त्रालय का हिन्दी-विभाग पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में जो काम कर रहा है उसे क्या आप उपयोगी और ठीक दिशा की ओर प्रगति मानते हैं?

उत्तर अच्छा होता यह काम सरकारी विभाग न करता बल्कि जनता कर रही होती। जनता कैसे कर सकती है यह प्रश्न मत उठाइए। सब काम काज करने की अनिवार्यता ही जनता को अनेकानेक शब्द प्रस्तुत करने तक ले जाती है। आज भी यह काम तेजी से हो रहा है। बम्बई और कलकत्ते में बने फिल्म-चित्र देश के हर कोने म दिखाए जाते हैं। इसी तरह जनता के सब वर्गों में जीवन की अनिवार्यता से ही मांग शुरू हो चुकी होती और अनेकानेक शब्दों का *निर्माण हो गया होता। विभाग द्वारा यह काम न केवल स्वल्प हुआ है बल्कि* सम्भव है कि वह उपयोगिता से कुछ हटा हुआ भी हो। कारण वह सिद्धान्त के ढंग से किया गया है। कार्यकारी उपयोगिता की कसौटी वहां प्रस्तुत नहीं रही है। इस काम में एक सुविधा मानी जा सकती है और वह यह कि इस प्रकार बनी हुई शब्दावली एक साथ प्रामाणिक और सर्वमान्य हो कर आएगी। पर

सम्भव हो सकता है कि बहुत-से शब्द उपयोग में आने ही नहीं और कुछ शब्द उपयोग में आ कर भी चलन में चलने लायक न सिद्ध हों। जनता द्वारा यह प्रक्रिया सम्पन्न होती तो सम्भव था कि अनेकार्थक शब्द विकल्प सामने आते और कोई एक प्रामाणिक शब्दावली प्राप्त न होती। लेकिन प्रमाणीकरण का काम कोई एक मामूली केन्द्रीय समिति पीछे कर सकती थी और तब यह कार्य सुगम भी होता। वह तब जनोपयोगिता से संलग्न भी बना रह सकता था। अब हम न जीवन से भाषा से उपयोग से अलग मानो सजीव सम्पर्क से विमुक्त भाषा प्रयोग में से शब्द-निर्माण करना चाहते हैं। इस प्रयत्न में न कृत्रिमता को पूरी तरह बचाया जा सकता है न समय के व्यर्थ अपव्यय को।

स्वल्प-फल, बहु-विषाद

विभाग द्वारा जो काम हुआ है, उसे अनुपयोगी नहीं कह सकते। पर स्वल्प फल बहु-विषाद अवश्य कहा जा सकता है। सच यह कि शासन सरकार ने अपने ऊपर आवश्यक तौर पर वह भी बहुत मिथ्या में लिया है, जो प्रजा जन में बांट कर किया जा सकता था। सहायता का काम ही सरकार का होना चाहिए था। भाषासम्बन्धी निर्मिति आदि का कार्य स्वयं इस प्रकार की आवश्यकता के दैनन्दिन व्यवहार में पड़े लोगों पर छोड़ना चाहिए था। किन्तु वह प्रश्न स्वयं शासन-सम्बन्धी धारणा का बन जाता है। मानना चाहिए कि वेलफेयर स्टेट का आदर्श कामों को लोगों पर छोड़ना नहीं अधिक-से-अधिक को अपने लिए मनमाने और हथियाने के निकट पहुंचता जा रहा है। मेरे जैसे कुछ लाभ और अभीष्ट न मानते होंगे पर सच यही है यह स्पष्ट है।

हिन्दी चलाना और टलाना

शिक्षा-मंत्रालय शब्दावली और शब्द-कोष देगा तो अच्छा ही है। लेकिन उस में समय लिया है और यह शब्दावली सब राज्यों से स्वीकृति पाए, इस में और समय लगेगा। चलन में आए, इस प्रयोग में और भी समय लगेगा। अतएव मन्त्रालय का यह सब प्रयत्न हिन्दी के माध्यम को प्रचलन में लाने की आवश्यकता के तत्काल स्थगन के साथ-साथ भी निभता चला जा सकता है। यही शासन की विशेषता है कि एक स्तर पर हिन्दी को चलाने के प्रयत्न चल सकते हैं उसी सरकार में दूसरे स्तर पर हिन्दी को टालने के प्रयत्न चल सकते हैं। दोनों में एक साथ होता रह सकता है और दोनों पक्षों को सन्तुष्ट रखा जा सकता है। यदि मैं विस्तार कर कहूं कि हिन्दी पर उतर आने की आतुरता और

अंग्रेजी की पराश्रसम्मितता से जल्दी-से-जल्दी छूटने की आतुरता सरकार में काम कर रही है तो शिक्षा-मन्त्रालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्व बढ़ जाता है। परिस्थिति में वैसा आग्रह नजर नहीं आता है। इस तरह यह प्रयत्न काज मापन का ढंग-तरीका भी काम पड़ता है और उस से पूरी सान्त्वना नहीं होती है।

प्रश्न : क्या आप मानते हैं कि संस्कृत को ही पारिभाषिक शब्दावली का आधार बनाया जाए और बनाया जाना चाहिए?

उत्तर : सिद्धान्तपूर्वक चलना ही मुझे सही नहीं मालूम होता है। संस्कृत बहुत उपयोगी हो सकती है इस काम में। लेकिन उस के साथ प्रण जोड़ना हठ का द्योतक है और इष्ट नहीं है। सच यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन के प्रयोजन को रख कर हम चलेंगे तभी समभावी रह सकेंगे। अन्यथा कोई-न कोई बाधिता हम को ग्रस लेगी। उस प्रकार भाषा के प्रवाह में हमारे द्वारा वेग या सामर्थ्य नहीं आएगा। बल्कि उस में कुछ गांठ पड़ेगी और ऊपर का आरोप और दबाव अनुभव होगा। इसी से पण्डित और विज्ञ लोगों से भाषा का उतना निर्माण या संस्कार नहीं हुआ करता जितना रचनाकार द्वारा होता है। कारण उस के हाथ में भाषा स्वयं साध्य नहीं होती बल्कि नैवेद्य की भांति जीवनाभिव्यक्ति के प्रति समर्पणीय अर्घ्य के समान होती है। कहे जाने वाले शब्दों पर यह काम छोड़ने से हो सकता है कि समानान्तर हम को दो शब्द-सूचियां मिलें। एक सूची लोक भाषा की हो और दूसरी विज्ञ भाषा की समझी जाए। शासन और देश-काल की दृष्टि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होगी और लोक-तन्त्र का तात्पर्य सिद्ध होगा तो तब जब लोक-भाषा और साधु-भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होगा बल्कि कम होता जायगा।

एक्युरेसी और फ्लुएन्सी के बीच

जितने शब्द भूमिज-देशज व्यवहार्य होंगे उतने भाषा प्रवाह में सहज चलते जाएंगे। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी हठ और सिद्धान्त के सहारे यह निर्माण सुगम भले हो जाए, लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सकने वाला शब्द चाहिए। एक्युरेसी और फ्लुएन्सी के बीच दोनों को सम्भालते हुए, शब्द-निर्माण के काम को करना चाहिए। सही-सही होना और प्रभावशाली होना इन दोनों सिद्धियों का ध्यान तभी रखा जा सकता है जब जीवन प्रयोजन के प्रति चित्त में सावधानता हो और इस से इधर उधर भाषा सम्बन्धी कोई राग या आसक्ति-भाव न हो। इस दृष्टि से विज्ञ से अधिक सामान्य जन का योग इस काम में अधिक विश्वसनीय और लाभकारी हो सकता है।

सत्याग्रह

प्रश्न   जब कोई सत्य पूर्ण, निरपेक्ष और अन्तिम नहीं है तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रह जाता आप मानते हैं ?

उत्तर   आग्रह अपूर्ण में ही हो सकता है अन्यथा आग्रह के लिए अवकाश ही नहीं रहता है। सिद्ध के लिए सत्याग्रह अविद्य बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है जो सत्य के रूप में उस में प्रतिभासित हुआ है वह भी अपूर्ण ही है। पर अपूर्ण कह कर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसी के सहारे वह जीता और मरता है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है।

अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक जानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रख कर भी सत्याग्रही नम्र और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तटों को रख कर ही चल सकता है। अर्थात् निषेध की शक्ति जीवन-सामर्थ्य में गर्भित है। अहिंसा में मात्र स्वीकार है जीवन अहिंसा से स्थिति और अवकाश प्राप्त करता है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय है। कर्म सत्याग्रह में से जन्म पाता है। गति और वेग सब वहां से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उस कर्म में बन्धन नहीं पैदा होता और उस गति से स्थिति में भंग नहीं आता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा बेग खो जाती है जीवन की क्षमता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। वह मानो सिक्के का सामने का रुख है उस के बिना अहिंसा मूल्य हीन हो जाती है। अहिंसा मानो उस की पीठ है कि जिस सत्य को हमेशा अपनाए रहना चाहिए।

प्रश्न   जब सभी सत्य अपूर्ण, व्यक्तिगत और सापेक्ष हैं तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को कहां रहा ? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही असहिष्णुता जन्म लेती है।

उत्तर   बल्कि मैं यों कहूंगा कि सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्पण का ही एक अधिकार रह

अंग्रेजी की पराश्रयिता से जल्दी-से-जल्दी छूटने की आतुरता सरकार में काम कर रही है तो शिक्षा-मंत्रालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्व बढ़ जाता है। परिस्थिति में वैसा आग्रह नजर नहीं आता है। इस तरह यह प्रयत्न काल यापन का ढंग-तरीका भी जान पड़ता है और उस से पूरी सान्त्वना नहीं होती है।

प्रश्न क्या आप मानते हैं कि संस्कृत को ही पारिभाषिक शब्दावली का आधार बनाया जाए और बनाया जाना चाहिए ?

उत्तर सिद्धान्तपूर्वक चलना ही मुझे सही नहीं मालूम होता है। संस्कृत बहुत उपयोगी हो सकती है इस काम में। लेकिन उस के साथ प्रण जोड़ना हठ का द्योतक है और इष्ट नहीं है। सच यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन के प्रयोजन को रख कर हम चलेंगे तभी समभावी रह सकेंगे। अन्यथा कोई-न कोई आविलता हम को ग्रस लेगी। उस प्रकार भाषा के प्रवाह में हमारे द्वारा वेग या सामर्थ्य नहीं आएगा। बल्कि उस में कुछ गाँठ पड़ेगी और ऊपर का आरोप और दबाव अनुभव होगा। इसी से पण्डित और विज्ञ लोगों से भाषा का उतना निर्माण या संस्कार नहीं हुआ करता जितना रचनाकार द्वारा होता है। कारण उस के हाथ में भाषा स्वयं साध्य नहीं होती बल्कि नैवेद्य की भाँति जीवना-भिव्यक्ति के प्रति समर्पणीय अर्घ्य के समान होती है। कहे जाने वाले तद्-ज्ञों पर यह काम छोड़ने से ही हो सकता है कि समानान्तर हम को दो शब्द-सूचियाँ मिलें। एक सूची लोक भाषा की हो और दूसरी विज्ञ-भाषा की समझी जाए। शासन और देश-काल की दृष्टि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होगी और लोक-तन्त्र का तात्पर्य सिद्ध होगा तो तब जब लोक भाषा और साधु-भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होगा बल्कि कम होता जाएगा।

एक्युरेसी और करेन्सी के बीच

जितने शब्द सुमित-वेधक व्यञ्जक होंगे उतने भाषा प्रवाह में सहज खपते जाएँगे। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी हठ और सिद्धान्त के सहारे यह निर्माण सुगम भले हो जाए, लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सकने वाला शब्द चाहिए। एक्युरेसी और करेन्सी के बीच दोनों को सम्भालते हुए, शब्द-निर्माण के काम को करना चाहिए। सही-सही होना और प्रभावमय होना इन दोनों सिद्धियों का ध्यान तभी रखा जा सकता है जब जीवन प्रयोजन के प्रति चित्त में सावधानता हो और इस से इधर-उधर भाषा सम्बन्धी कोई राग या आसक्ति भाव न हो। इस दृष्टि से विज्ञ से अधिक सामान्य जन का योग इस काम में अधिक विश्वसनीय और लाभकारी हो सकता है।

सत्याग्रह

प्रश्न   जब कोई सत्य पूर्ण, निरपेक्ष और अन्तिम नहीं है, तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रह गया आप मानते हैं ?

उत्तर   आग्रह अपूर्ण में ही हो सकता है अन्यथा आग्रह के लिए अवकाश ही नहीं रहता है। सिद्ध के लिए सत्याग्रह असिद्ध बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है, जो सत्य के रूप में उस में प्रतिभासित हुआ है वह भी अपूर्ण ही है। पर अपूर्ण कह कर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसी के सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह रूप ही रह जाता है।

अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक जानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रख कर भी सत्याग्रही नम्र और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तटों को रख कर ही चल सकता है। अर्थात् निषेध की शक्ति जीवन-सधर्म्म में अमित है। अहिंसा में मात्र स्वीकार है जीवन अहिंसा से स्थिति और अवकाश प्राप्त करता है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय है। कर्म सत्याग्रह में से जन्म पाता है। गति और वेग सब वहां से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उस कर्म में बन्धन नहीं पैदा होता और उस गति से स्थिति में भंग नहीं आता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा वेग को खाती है, जीवन की क्षमता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। वह मानो सिक्के का सामने का रुख है उस के बिना अहिंसा मूल्य हीन हो जाती है। अहिंसा मानो उस की पीठ है कि जिस सत्य को हमेशा समग्र रहना चाहिए।

प्रश्न : जब सभी सत्य अपूर्ण, व्यक्तिगत और सापेक्ष हैं तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को कहां रहा ? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही असमान-विकता जन्म लेती है।

उत्तर   बल्कि मैं यों कहूंगा कि सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्पण का ही एक अधिकार रह

जाता है। उस से अलग और अधिक कुछ उस का अधिकार होता ही नहीं है।

अमानुषिकता अविनय प्रसूत

हाँ, आग्रह से संघर्ष निकलता है। वह संघर्ष अमानुषिक यदि होता है तो तब जब विनय की शर्त छूट और टूट जाती है। यदि विनम्रता की शर्त के साथ चलें तो सच्चे आग्रह में से निकला हुआ संघर्ष मानवीय ही नहीं दैवी तक हो जाता है। धर्म-युद्ध यदि धर्म-युद्ध बनता है तो तभी जब एक ओर से धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्रथम और शत्रु का पराजय मानो द्वितीय हो जाता है। ऐसे धर्म-युद्ध में से ही संस्कारिता निकलती और संस्कृति सम्पन्न होती है।

सत्याग्रह विवशताजन्य, स्वयं-प्राप्त

इसलिए सत्याग्रह के साथ शर्त नहीं हो सकती। उसमें तरतमता नहीं हो सकती। सौम्यतर और साम्यतम की भाषा बुद्धि की है। वह दूसरे की ओर से आ सकती है, स्वयं सत्याग्रही की ओर से उस प्रकार की भाषा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। मैं मानता हूँ कि सत्याग्रह मनुष्य के पास वह आयुध है जो ईश्वरीय है। उस का समर्थन दुनिया में से किसी तरह भी नहीं आ सकता है। दुनिया की ओर का कोई औचित्य सत्याग्रह को उचित नहीं दिखा सकता। उस प्रकार का सब तर्क और सब विचार मानो बाहरी होता है। सत्याग्रह आन्तरिक विवशता में से फूटता है। उस के औचित्य का निर्धारण किन्हीं बाह्य विचार पर निर्भर नहीं हो सकता। परिस्थिति की घोरता से अधिक व्यक्ति की असह्यता और अहिंसकता में से वह बनता है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध उस अवस्था में इतना उठ जाता है कि मानो समष्टि के सम्पर्क में आ मिलता हो। मानो व्यक्ति का झगड़ा स्वयं परमेश्वर से हो, परिस्थिति से रह ही न गया हो। अर्थात् सत्याग्रह वह कर्म है जिसका सन्दर्भ सांसारिक रहता ही नहीं, पूरी तरह आत्मिक हो जाता है। तत्काल और समाज व नैतिक मानों की ओर से उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उस का परिणाम तत्काल से अधिक इतिहास के वृत्त में जाता है। दूसरे शब्दों में फलाफल से उस का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अंतिम रूप से और दो शब्दों में यह इसलिए कि मनुष्य का जब सब कुछ हार रहता है तब प्रेम में परमात्मा के हवाले अपने को छोड़ देने का नाम सत्याग्रह है। प्रेम में छोड़ना, यानी अहं जीवन को बिसार रहना और परम जीवन के प्रति आहुत हो रहना।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म की चर्या कामना या काम भावना की वह अनुभूति है, जो अलगाव और पृथक्त्व में रुकती नहीं है, उन का समाहार या पार खोजती है। इस तरह वह एक-एक को नहीं लेती मानो सब को लेना चाहती है। इस में काम की ज्वाला की नाना शिखाएं एक प्रेम की लौ बन कर रह जाती हैं। शायद अनेक की इस एकता में ताप का हरण हो जाता है और प्रकाश का वरण होता है। इस को मैं कामोन्नयन नहीं कहता हूँ। यह भाषा आधुनिक विज्ञान-व्यवसाय की है। लेकिन यह उन्नयन नहीं है उस का जो मूल में द्वन्द्व है। काम अहंता में से निकलता है, प्रेम आत्मता में से उदय पाता है। काम को अनन्त गुणित करने से भी उस में प्रेम नहीं प्राप्त होगा। कारण, प्रकृति से ही वे भिन्न हैं।

व्यभिचार

एक का अनेक में गमन व्यभिचार माना जाता है। लेकिन एक का एक में गमन न कभी सम्भव हुआ है, न होगा। यह मूलतः गलत है। इसलिए यदि एक एक में सीमित है, तो पति-पत्नि सम्बन्ध के द्वारा ही सीमित है। किन्तु स्वयं भारतीय समाज में इस पति-पत्नी सम्बन्ध को छोड़ कर अन्य असंख्य सम्बन्ध विद्यमान हैं। उन में यह माना कि यौन सम्बन्ध वर्जित रहता है, लेकिन क्या यह भी माना जा सकता है कि उन सम्बन्धों में परस्पर स्नेह और ममता का प्रवाह निषिद्ध है। अर्थात् व्यभिचार का अर्थ स्थूल एवं उपयोगी मात्र है उस पर अधिक बोझ डालने से मर्यादा की लकीरें इतनी गहरी खरोंच डालती हैं कि स्वयं मर्यादाएं क्षत-विक्षत हो जाती हैं। नहीं तो सोचिये कृष्ण को कैसे समझ में लीजियेगा ?

प्रश्न कृष्ण का जिक्र आप ने किया। सामाजिक दृष्टि से छोड़िए, धार्मिक दृष्टि से ही उन के सोलह हजार आठ रानियों के साथ एक साथ कल्पित सम्भोग को आप किस प्रकार स्वीकार करेंगे ?

उत्तर सोलह हजार आठ की संख्या पर तो आप का ध्यान नहीं अटका है ? मैं ने छियानवे हजार की संख्या भी सुनी है। एक समय हजार क्या एक से आगे दो भी तो भोग में सम्भवता नहीं है। भोग की यही सब से बड़ी सीमा और समीक्षा है। सोलह या छियानवे हजार की भाषा का मतलब यही हो सकता है कि कृष्ण भोगी नहीं थे। नहीं तो रानियों की संख्या इकाई से उठ कर दहाई या अधिक से अधिक सैकड़े से आगे नहीं जा सकती थी। अगर

हजारों तक गई और फिर भी मानो कल्पना अतृप्त रह गई तो उस का आशय कृष्ण में भोग की जगह योग का ऐश्वर्य देखने का ही रहा हो सकता है।

यह एक साथ सब के थे

भागवत में है कि नारद इस विस्मय का उत्तर पाने के लिए उन हजारों में से एक-एक रानी के पास गए। कैसे कृष्ण सब को एक साथ उपलब्ध होते और तृप्त रखते हैं यह प्रश्न हो ही सकता है। नारद जी जिस के यहां पहुंचते हैं, वहीं कृष्ण को उपस्थित पाते हैं। ऐसे अन्त में मानो उन्होंने उत्तर पा लिया। वह उत्तर यही हो सकता है कि कृष्ण एक-एक के नहीं सब के थे और उन सब के लिए भी कृष्ण एक व्यक्ति नहीं मानो आप्त पुरुष थे। संख्या और कल्पना की अतिशयता द्वारा मानो हम अपने बीच की रेखाओं को पार कर उस अनन्तता में पहुंच जाना चाहते हैं जहां संयम इसलिए अनावश्यक है कि आनन्द वहां व्याप्त है। व्यक्ति वहां अकेला नहीं रहता कि दूसरे की जरूरत में हो वह सब हो जाता है कि कोई जरूरत उसे नहीं रहती।

काम औषधि, रोग नहीं

मैं मानता हूं कि काम अकेलेपन को खोने की औषधि के रूप में आता है और प्रेम वह नहीं, बल्कि एक का एकाकीपन है जिस को कभी स्वयं साध्य भी मान लिया जाता है। यह भयंकर भूल खत्म होनी चाहिए।

हिंसा-अहिंसा

प्रश्न — इतिहास इस बात का साक्षी है कि अहिंसा हिंसा के अन्धकार में ज्योति की तरह चमकी तो जरूर, पर चमकी कुछ देर के लिए और उस का सन्देश मानव-मन में स्थिर न रह सका। ऐसी अवस्था में क्या अहिंसा और प्रेम का आप का सपना पूरा हो सकेगा और संसार वर्तमान की भीषण सम्भावनाओं से सुरक्षित बच सकेगा?

उत्तर — सपना पूरा कभी न होगा। लेकिन सपना संकेत जरूर देता रहेगा। सपना कह कर जब उस संकेत को भी हम टालते हैं, तब संकट को ही निमन्त्रण देते हैं।

अहिंसा का अभाव हिंसा का समर्थन नहीं

हिंसा-अहिंसा किसी निश्चित रूप और कृत्य के नाम नहीं हैं। यदि हम

मानव की वृत्ति और उस के विकास को हिंसा से अहिंसा की दिशा में न मानें तो इसी क्षण सब कुछ व्यर्थ और अहेतुक हो जाता है। सम्पूर्ण अहिंसा का व्यवहार कल्पना तक में यदि स्पष्ट नहीं हो पाता है तो इस का अर्थ हिंसा का समर्थन नहीं बना लेना चाहिए। मनुष्य में से पशुता अटके रहने के लिए सदा शेष रहती चली जाएगी। इस में से पशुता को समर्थन नहीं मिल जाता है। बल्कि पशुता से निवृत्ति उतनी ही मानवता का लक्षण बनी चली जाती है।

इतिहास में हिंसा का चमत्कार मिलेगा। लेकिन अगर यह अंधेरा थोड़ी देर के लिए भी कटा तो उस ज्योति को इतिहास फिर भूल नहीं सका है। उसे ज्योति के रूप में मानता रहा। इसी में इतिहास के लिए सान्त्वना और आशा के तत्त्व मिल जाते हैं। अंधकार को ज्योति का अभाव ही हम मान सकते हैं। अभाव नियम नहीं हो सकता। अभाव मरता है, नियम यह है।

युद्धों के पीछे अनिवार्य मिलन

स्वयं युद्धों के क्रम को ही लीजिए। उस का रूप विकास से विशालतर और विकट से विकटतर होता गया है। लेकिन सूक्ष्मता से देखें कि इस विशालता और विकटता के नीचे कुछ तत्त्व के नियम और नियमन भी अन्तरराष्ट्रीय स्वीकृति में विकास पाते चले गए हैं। युद्ध में ही सही, दुनिया के देश ऐसे एक दूसरे के परिचय में आए हैं। विश्व-व्यवस्था जैसी चीज़ प्रकट हुई है और यह दर्शन सब को सुगम हो गया है कि सब परस्पर अन्तःप्रभावित और अन्योन्य निर्भर हैं। सारे विश्व का शरीर अब अपने को एकत्र और एकात्म अनुभव करता है। एक स्थल पर क्षति प्रकट होने पर जैसे समस्त शरीर में से रक्त उस ओर दौड़ पड़ता है। हिंसा के रक्त रंजित दृश्यों के पीछे जो अव्यक्त यह एकता और एकमता घटित और सम्पन्न होती चली जा रही है उसे हम सहसा देखा-अनदेखा कर देते हैं। हिंसा कटती और फूटती है, तब दीखती है। अहिंसा अलक्ष्य भाव से जो हमारी परस्परता को घनिष्ठ व्याप्त और क्षेम बनाती जा रही है, सो सब का लेखा हमारी बाह्य इन्द्रियां सहसा ले नहीं पातीं। उस को प्रज्ञा की आंखों से देखना होता है। यह अविरल अनिवार्य यद्यपि अदृश्य रूप से मानव-जीवन के इतिहास में से घटित होती चली आई हैं। ऐसा न होता तो इतिहास कभी का नष्ट हो गया होता।

अणु-बम से अहिंसा का पाठ

आज अणु-शक्ति प्रकट हुई है और उस की पहली सार्थकता अणु-बम के रूप

में हम ने पहचानी है। जाहिर है कि भीषण संहार-शक्ति उस में है और वह हिंसा का चरम उपकरण है। लेकिन इस आविष्कार से दुनिया खुली आँखों देख आई है कि मन की तनिक विकृति किस तरह सारे संसार को ध्वस्त कर सकती है अर्थात् हिंसा का भाव कितना घातक और अहिंसा का विचार कितना आवश्यक है। जो धर्म-शास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने काल से मानव-मन के निकट प्रत्यक्ष नहीं कर पाए थे हिंसक कहे जाने वाले इस अणुबम के आविष्कार ने वह पाठ विश्व-मानस के मर्म में एक ही साथ उतार दिया है। अर्थात् इतिहास में से हिंसा नहीं निकलती है, बल्कि अहिंसा के विचार की अनिवार्यता निकलती है यह देखना कठिन नहीं होना चाहिए। बाह्य-दर्शन की हिंसा जैसे अन्तर्दर्शन की अहिंसा को पाठ के रूप में प्रस्तुत करने को ही बनी हो।

हिंसा का अगौरव बढ़ा है

बुद्ध ईसा गांधी हमें इतिहास में ज्योति की भाँति चमक कर मुग्ध हुए जान पड़ते हैं। पर ज्योति उन अवतारी पुरुषों की काया के साथ चली ही गई होती तो उन के नाम मात्र शेष बचे कैसे रह जाते ? वह ज्योति मानवता के *हृदयों में अपनी किरणें छोड़े बिना अस्त हो गई होती तो स्मृति किस सहारे* उस ज्योतिर्मयता को संजो सकती ? अतीत और व्यतीत मान कर इतिहास में से उन की वर्तमानता को मिटाया नहीं जा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की बीरता से सशस्त्र और भयभीत है उस की अहिंसा की चेतना को ही दरसाता है। हिंसा का गौरव क्रमशः घटता जा रहा है। उस पर बल्कि अगौरव इतना बढ़ गया है कि हिंसा पर उतरने वाली सत्ता और शक्ति को विश्व-मत के आगे अपनी कैफियत और सफाई देनी होती है। जैसे यह प्रतीत हो कि वह जुर्म है इस से सफाई देना जुर्म से ही जरूरी है। इस को मानव-चेतना में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अतिरिक्त दूसरा *क्या कहिये।*

प्रश्न विज्ञान ने मानव-मनों को फाड़ा और युद्धों का सृजन किया, आप की ही यह बात आप के उपर्युक्त कथन से उलटी पड़ जाती है कि विज्ञान के उपकरणों ने विश्व-मानव में प्रेम और अहिंसा की अनुभूति को दृढ़ एवं प्रशस्त किया है। इस विरोध का क्या कारण है ?

उत्तर विज्ञान बुद्धि की वह तटस्थ प्रक्रिया है, जो सागर से बूँद की तरफ चलती है। अलगाव और पृथक्करण उस की पद्धति है। इस में एक को दूसरे से भिन्न पहचाना जाता है। विज्ञान इस तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान *स्वतः अभेद से वास्ता नहीं रखता है। जितना जो चमत्कार विज्ञान दिखाता है*

पृथक्करण द्वारा पाए गए मर्म को फिर लौटा कर जीवन के अविशिष्ट उपयोग में उतारने के वास्ते ही लिया जाता है। अर्थात् विज्ञान विश्लेषण है, जीवन की आवश्यकता उस में से संश्लेषण खोज लेती है।

जीवन संश्लेषण है

विज्ञान के उपकरण और आयुध जैसे-जैसे आविष्कृत होते चले गए, वे पहले शासनात्मक वृत्ति के हाथ पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि वासना के वेग और दबाव में से बुद्धि को प्रेरणा उपलब्ध हुई और नया-नया आविष्कार करती चली गई। 'निसेसिटी वाज दी मदर आफ इन्वेंशन' यानी आवश्यकता जीवन सम्बन्धी थी और बुद्धि विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों को संश्लेषण जीवन की परिस्थितियों से मिलता गया। विज्ञान युद्ध की आवश्यकता के दबाव के नीचे चलता रहा और पीछे जा कर ही रचनात्मक और विधायक कार्यों में आया। बुराई में से अक्सर हम भलाई फलित होते देखते हैं पर वह भलाई बुराई को भला नहीं बना देती। फिर भी उस भले फल को अपना कर हम बुराई के कृतज्ञ भी हो लेते हैं। विज्ञान को अपने-आप में भला या बुरा ठहराने का कुछ अर्थ नहीं है। हवा को गोरा या काला क्या कहा जाए? लेकिन एक को दूसरे से भिन्न समझने की विधि तभी सही काम देगी जब साथ ही अभिन्नता की भूमि और श्रद्धा प्राप्त बनेगी? यह भूमि जीवन की ही भूमिका है और उस श्रद्धा से मानव-मन कभी खाली नहीं हो पाता है। यही जीवन का सनातन धर्म है। पाशविक संहार में से भी जो जीवन का निर्माण निकाल लेता और हिंसा में से अहिंसा की ओर गति साध लेता है वह जीवन-धर्म मानव धर्म एक क्षण के लिए भी खोता नहीं है। और मानव उसी की चौकसी में अपने सब उत्पातों के बावजूद मानवता में उठता और बढ़ता आया है। मनुष्य की ओर से जो अधर्म हुआ है उस के प्रति कोई समर्थन या समझ का भाव यहां नहीं देखना चाहिए, केवल मानवोत्तर ऐतिहासिक विकास-नियम को ही पहचान लेना चाहिए।

प्रजातन्त्र, मार्क्सवाद, साम्यवाद

प्रजातन्त्र

प्रश्न मानव की, जगत एवं तन्त्र की वर्तमान परिस्थिति में क्या प्रजातंत्र को ही आप सर्वोत्तम एवं श्रेयस्कर तन्त्र नहीं मानते और क्या उसी में आप मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नहीं पाते?

उत्तर प्रजातन्त्र के भीतर का यह भाव सही और स्थायी है कि प्रजा

से अलग और ऊपर बैठने वाला राजा नहीं होना चाहिए। पर यह स्थिति उत्तरोत्तर प्राप्त करनी है, प्राप्त है नहीं।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में कठिनाई इतनी है कि मूल आदर्श धुंधला रहता है। लेकिन तन्त्र सिर्फ वोट बन जाए और अन्दर की असलियत यह हो कि भीतर ही-भीतर राजकीय और शासकीय मानस पनपे तो केवल प्रजात्मक नाम होने से उस को बढ़िया नहीं ठहराया जा सकता। तन्त्र के रूप में अधिक सम्भव है कि प्रजातन्त्र रचना सुगठित और सक्षम न हो उस में कई तरह की ढीलें रहें और कुल मिला कर एकाग्रता और एकचित्तता न आ पाए—तो उन्नति की होड़ में यह प्रजासत्तात्मक तंत्र ही उस राष्ट्र को आगे निकलने से रोकने वाला हो जाएगा। हमारे देखते-देखते कई लोकतंत्र सैनिक अधिनायक-तंत्र बन गए हैं सो इसी कारण। आज राष्ट्र को समग्र और प्रभुत्व-सम्पन्न मान कर हम सर्वांगीण उन्नति करना चाहते हैं तो तंत्र का प्रजासत्तात्मक रूप अक्षम सिद्ध होगा। केन्द्रित और एकमुष्ट रूप सक्षम निकलेगा।

आज की उन्नति स्पर्धात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। उस की अर्थ रचना तदनुरूप है। सब की कोशिश है कि निर्यात बढ़े आयात की जरूरत घटे। सब मशीन प्रधान और उद्योग प्रधान होना चाहते हैं। उन में मंडियों को पाने और पकड़ने की होड़ है। सब की अलग मुद्रा है और सब की व्यापार-नीति स्वार्थहित की धुरी पर घूमती है। इस प्रवृत्ति और आवश्यकता के अधीन राज-सत्ता को एक बड़े व्यापार-तंत्र के रूप में उठना होता है। यदि मानव-सभ्यता का रुख यही रहा तो प्रजातंत्र का कोई भविष्य नहीं है। यह प्रणाली पाठ्य में रहे, शायद मुंह पर भी रहे लेकिन वास्तविकता में उसे झुठलाया जाएगा। वर्तमान सभ्यता में दूसरी गति नहीं है।

मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता शासनवादी प्रजातंत्र में नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि उलटे उस से विनाश को निमंत्रण मिल सकता है, यदि अनिश्चितता और अक्षमता उस का लक्षण बना रहे।

अहिंसा-धर्मी प्रजातन्त्र से ही आशा

विनाश को प्रजातन्त्र रोक सकेगा जो अहिंसा को अपनी निश्चित नीति मानेगा। तदनुरूप अपनी अर्थ-रचना बनाएगा शस्त्रास्त्र-निर्भरता से तत्परिणाम-स्वरूप मुक्त होगा और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में वैसी निःशस्त्रता का संकल्प ले कर आगे आएगा।

हम देखेंगे कि यह प्रजातन्त्र राष्ट्र राज्य से भी अधिक जगत के समक्ष

स्वयं मानव-राज्य के तन्त्र का नमूना पेश कर जाता है। शासन का रूप वहाँ अनुशासन है। वह केन्द्रित कर्म एवं व्यापार-तन्त्र नहीं है, जन-विश्वास के आधार पर स्थित सर्वथा नीति-तन्त्र है। राज्य मानो वहाँ केवल यन्त्र-करण है, सञ्चालना नहीं है। ठोस रूप उस का धीरे धीरे कम होता जाता है, व्याप्त महत्त्व उस का बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि शासन मुक्त समाज का रूप उस से क्रमशः प्रकट हो चलता है।

प्रजातन्त्र इस दिशा में विकास पा सके तब विनाश ही न बचेगा, बल्कि स्वयं मानवता को परिष्कार प्राप्त होगा। अन्यथा जनता कोरी मात्र संज्ञा ही छूटेगी और विश्वास फिर शस्त्र-शक्ति के आधार को ढूँढेगा। आधुनिक स्थिति यही दिखा रही है। हिंसा और प्रजातन्त्र दोनों साथ चलते हैं तो झूठ चलता है। और झूठ चल नहीं सकता। इसलिए एकदम निश्चित है कि अहिंसा को सभी मोर्चों अपनाने की हिम्मत से और तत्पर आचरण से ही प्रजातन्त्र भावी का तन्त्र हो सकता है। नहीं तो नहीं।

प्रश्न : क्या आप की राय में वर्तमान परिस्थितियों में कोई राष्ट्र स्वरक्षात्मक राष्ट्र-नीति को त्याग कर और सर्वांगीण अहिंसात्मक नीति एवं निःशस्त्रीकरण को अपना कर अपना अस्तित्व बचाए रख सकता है? अकेला चूहा बिल्ली के गले में घण्टी बाँधने चलेगा, तो मृत्यु के मुख में ही जाएगा।

उत्तर : अपने को ही नहीं, साथ सब का भी ऐसा ही राष्ट्र बचा सकेगा। लेकिन राष्ट्र को अपने पूरेपन में वैसा होना होगा। सिर्फ राजनीतिक धरातल में से यह योग्यता नहीं आ सकती। उस को अपना अर्थ-तन्त्र नीचे से उसी प्रकार रचना और बनाना होगा। आज के अर्थ-जाल में राष्ट्र परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि सच पूछिए तो विश्व-युद्ध में तटस्थ तक कोई नहीं रह सकता।

एक नहीं तो आप की कल्पना में सब चूहे मिल कर बिल्ली को चक्कर घेर कर सकते मालूम होते हैं। लेकिन सब कभी नहीं मिलेंगे। अगर मिलेंगे और बिल्ली को काबू कर पाएँगे तो तभी जब सचमुच कोई एक अकेला चूहा बिल्ली के गले में घण्टी बाँधने बढ़ने का साहस दिखाएगा। भय से भी अधिक साहस संक्रामक होता है।

साहस भी संक्रामक होता है

भय संक्रामक होता है, यह आप जानते हैं, मैं जानता हूँ। लेकिन विश्वास और साहस उस से भी संक्रामक होते हैं, यह भी आप-हम को जानना चाहिए। तीली एक और गर्मी-सी होती है, जल कर भस्म होने वाला जंगल बियाबान

और भयानक होता है। तीली की आग क्या अपने पर शर्म कर संयम के भय बचपन से डरी रह जाए? यह नहीं हो पाता और तीली संयम को जला डालती है। किसी के सामने चूहा तो भी है भयानक अग्नि-कांड की घोरता के सामने तो बीड़ी की सुलग उतनी भी नहीं है। पर अणु के जमाने में एक की ओर अन्य की सम्भावनाओं से हम अनजान बने रहेंगे? उससे मुंह मोड़ेंगे? अब तक शायद यही होता आया है। वस्तु का भरोसा किया है कण को कम समझा है। पर आइन्स्टीन के सूत्र ने पोल खोल दी है और समष्टि को अणु में ला दिया है। ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है। यह सत्य आध्यात्मिक से भौतिक हो गया है। उस अणु के जमाने में आप यह क्या कहने बैठे हैं कि एक राष्ट्र अपनी ओर से पहल नहीं कर सकता। पहल एक की ओर से ही होगी। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पांत में आना जरूरी बनता जा सकता है।

मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि

आज रूस और अमेरिका की दो ताकतें हैं। शिखर-सम्मेलन हुए हैं और हो रहे हैं। नि-शस्त्रीकरण की चर्चा निरन्तर है। शान्ति दोनों महादेश चाहते हैं। अणु-अस्त्रों का निष्प्रयोग चाहते हैं विसर्जन चाहते हैं। राष्ट्र नेता दोनों तरफ अच्छे, सच्चे और बहादुर हैं। लेकिन चलते एक-दूसरे की तरफ शर्त के साथ हैं। 'हम करते हैं अगर तुम भी करो' 'हम जितना करें उतना करोगे?' 'तुम कर के दिखाओ तो फिर देखना हम क्या कर दिखाते हैं' इत्यादि। मगर यह शर्त के साथ मानना सच्चा मानना नहीं है। क्यों वे बहादुर लोग पूरे और खुले तौर पर नहीं मान पाते हैं? इस अधूरेपन का क्या कारण है? कारण है कि वे राष्ट्र नेता भी हों तो क्या यह भी शर्त रखेगा? शर्त किस के साथ रखेगा? शस्त्र किस के खिलाफ रखेगा? आज का हमारा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र राष्ट्र प्रतिनिधियों राष्ट्र-नीतियों और कूटनीतियों का क्षेत्र है। मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में और उस के द्वारा अन्तरराष्ट्र में प्रमुखता पाएगा तो दृश्य दूसरा दिखाई देगा। पर शायद उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

शासन और अनुशासन

प्रश्न   आन्तरिक नियन्त्रण के अभाव में नीति अथवा शासन तंत्र क्या अनिवार्य नहीं है? यदि है तो आप विभिन्न तंत्रों में किस को अपना समर्थन प्रदान करते हैं?

उत्तर   समाज में आत्मानुशासन उत्तरोत्तर इतना वर्धमान और वर्धमान

हो सकता है कि केन्द्रित राज-तन्त्र की जरूरत न रह जाए। उसी स्वप्न और आशा में मानव-समाज बढ़ता आ रहा है। इस का आशय यह है कि शासन को अधिकाधिक अनुशासन का रूप मिल जाना चाहिए। शासन वह जो तन्त्र द्वारा केन्द्रित होता और सेना और शस्त्रास्त्र का पृष्ठबल जरूरी पाता है, अनुशासन का अर्थ यह है कि शासन विकेन्द्रित और व्यवस्थापक होता जाए और इस तरह शक्ति-परक से नीति-परक होने की ओर बढ़े। राज-कारण और राजतंत्र वे सच्चे हैं जो प्रशासनात्मक शक्ति के उपकरणों से कम और अनुशासनात्मक नीति के साधनों से अधिक चलते हैं।

महत्व तन्त्र के रूप का नहीं

भाषा से वास्तविकता व्यक्त होने के साथ ढंकती भी है। इसी कारण भाषा में किसी तन्त्र को अच्छा-बुरा ठहरा देने से काम कुछ ऊपर से आसान होता हो पर असल में कठिनाई कटती नहीं है। प्रजातन्त्र, लोक-तन्त्र, अधिनायक-तन्त्र, राज-तन्त्र आदि-आदि शब्द प्रचलित हैं। भारत अपने तन्त्र को गणतन्त्र कहता है। इंगलैण्ड के तन्त्र को कुछ विशेषण के साथ राज-तन्त्र माना जाता है। लेकिन चर्चा चली है कि यहाँ राष्ट्रपति का स्थान और अधिकार ब्रिटिश ताज से भिन्न है कि अभिन्न है? बहुत अंश में शब्द और विधि का ही फेर है, नहीं तो दोनों की ही स्थिति एक है।

राजनीति के साथ व्यवहार चलाने और वहाँ प्रभावशाली होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उस भाषा में ही रहा जाए और उस के पार और पीछे न देखा जाए। पराजकीय व्यक्ति राजनेता से भी आगे राज-स्रष्टा व द्रष्टा बन सकता है। राजनीतिक शब्दावली की सार्थकता बहुत सीमित है, असल में वह प्रयोजन परिमित है। उस से आगे उस में अपरिमित है नहीं। गांधी जी ने आखिर तक एकच्छत्र भारत के राज-कारण को चलाया और वाणी में राम राज्य शब्द रखा। तंत्र बनाया, उसे संवारा और संभाला, लेकिन शब्द सम्पूर्ण सदा राम राज्य ही लिया। राम-राज्य से किसी तन्त्र-विशेष का चित्र मन में नहीं बनता है। वैसे तन्त्र वहाँ कोई भी हो सकता है, आवश्यक इतना भर है कि एक भी अपने को उस राज्य में वंचित, दीन और दुःखी अनुभव न करे, हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी चोटी के नाम तक पहुँच सके। तो वहाँ राजा प्रजा के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध है, उसी राज्य-व्यवस्था को बेहतर मानना चाहिए। [illegible] या [illegible] या मनोनयन वगैरह नामों से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनती है जो

और भयानक होता है। तीली की आग क्या अपने पर अपनी उस संयम के अचा-नकपन से डरी रह जाए? यह नहीं हो पाता और तीली संयम को जला डालती है। किसी के सामने चूहा तो भी है, भयानक अग्नि-कांड की घोरता के सामने तो तीली की गुणना उतनी भी नहीं है। अरे अणु के जमाने में एक की ओर अल्प की सम्भावनाओं से हम अनजान बने रहेंगे? उससे मुंह मोड़ेंगे? अब तक शायद यही होता आया है। 'बहुत' का भरोसा किया है, कम को कम समझा है। आइन्स्टीन के युग ने मात्रा खोज ली है और समष्टि को अणु में ला दिया है। ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है। यह सत्य आध्यात्मिक से भौतिक हो गया है। उस अणु के जमाने में आप यह क्या कहने बैठे हैं कि एक राष्ट्र अपनी ओर से पहल नहीं कर सकता। पहल एक की ओर से ही होगी। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पांत में आना जरूरी बनता जा सकता है।

मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि

आज रूस और अमेरिका की दो छावनियां हैं। शिखर-सम्मेलन हुए हैं और हो रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की चर्चा निरन्तर है। शान्ति दोनों सहर्ष चाहते हैं। अणु-अस्त्रों का निष्प्रयोग चाहते हैं विसर्जन चाहते हैं। राष्ट्र नेता दोनों तरफ अच्छे, सच्चे और बहादुर हैं। लेकिन चलते एक-दूसरे की तरफ शर्त के साथ हैं। 'हम करते हैं, अगर तुम भी करो' 'हम जितना करें, उतना करोगे?' 'तुम कर के दिखाओ तो फिर देखना हम क्या कर दिखाते हैं' इत्यादि। मगर यह शर्त के साथ मानना सच्चा मानना नहीं है। क्यों वे बहादुर लोग पूरे और सूधे तौर पर नहीं मान जाते हैं? इस अधूरेपन का क्या कारण है? कारण है कि वे राष्ट्र नेता भी हों तो क्या वह भी पक्ष रखेगा? पक्ष किस के साथ रखेगा? और किस के खिलाफ रखेगा? आज का हमारा अन्तरराष्ट्रीय खेल राष्ट्र-प्रतिनिधियों, राष्ट्र-नीतियों और कूटनीतियों का खेल है। मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में और उस के द्वारा अन्तर राष्ट्र में प्रमुखता पाएगा तो दृश्य दूसरा दिखाई देगा। पर शायद उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

शासन और अनुशासन

प्रश्न : आन्तरिक नियन्त्रण के अभाव में नीति अथवा शासन तंत्र क्या अनिवार्य नहीं है? यदि है तो आप विभिन्न तंत्रों में किस को अपना समर्थन प्रदान करते हैं?

उत्तर : समाज में आत्मानुशासन उत्तरोत्तर इतना वर्तमान और वर्धमान

हो सकता है कि केन्द्रित राज-तन्त्र की जरूरत न रह जाए। उसी स्वप्न और आशा में मानव-समाज बढ़ता आ रहा है। इस का आशय यह है कि शासन को अधिकाधिक अनुशासन का रूप लेते जाना चाहिए। शासन वह जो तन्त्र द्वारा केन्द्रित होता और सेना और अस्त्रशस्त्र का पुष्ट बल चाहता है। अनुशासन का अर्थ यह है कि शासन विकेन्द्रित और व्यवस्थापक होता जाए और इस तरह शक्ति परक से नीति-परक होने की ओर चले। राज-कारण और राज तंत्र वे अच्छे हैं, जो प्रशासनात्मक शक्ति के उपकरणों से कम और अनुशासनात्मक नीति के साधनों से अधिक चलते हैं।

महत्व तन्त्र के रूप का नहीं

भाषा से वास्तविकता व्यक्त होने के साथ ढंकती भी है। इसी कारण भाषा से किसी तन्त्र को अच्छा-बुरा ठहरा देने से काम कुछ ऊपर से आसान होता हो, पर असल में कठिनाई कटती नहीं है। प्रजातन्त्र लोक-तन्त्र अधिनायक-तन्त्र राज-तंत्र आदि-आदि शब्द प्रचलित हैं। भारत अपने तन्त्र को गणतन्त्र कहता है। इंगलैण्ड के तन्त्र को कुछ विशेषण के साथ राज-तन्त्र माना जाता है। लेकिन चर्चा चली है कि यहां राष्ट्रपति का स्थान और अधिकार ब्रिटिश ताज से भिन्न है, कि अभिन्न है? बहुत अंश में शब्द और विधि का ही फेर है, नहीं तो दोनों की ही स्थिति एक है।

राजनीति के साथ व्यवहार चलाने और वहां प्रभावशाली होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उस भाषा में ही रहा जाए और उस के पार और पीछे न देखा जाए। पराजकीय व्यक्ति राजनेता से भी आगे राज-स्रष्टा व द्रष्टा बन सकता है। राजनीतिक शब्दावली की उपयोगिता बहुत सीमित है। असल में वह प्रयोजन पर्यन्त है। उस से आगे उस में असलियत है नहीं। गांधी जी ने आधी सदी तक एकछत्र भारत के राज-कारण को चलाया और वाणी में राम-राज्य शब्द रखा। तंत्र बनाया, उसे उभारा और संभाला, लेकिन सम्मुख सदा राम राज्य ही किया। राम-राज्य से किसी तन्त्र-विशेष का चित्र मन में नहीं बनता है। वैसे तन्त्र वहां कोई भी हो सकता है, आवश्यक इतना भर है कि एक भी अपने को उस राज्य में वंचित दीन और दुखी अनुभव न करे हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी दीप के कान तक पहुंच सके। तो जहां राजा प्रजा के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध है उसी राज्य-व्यवस्था को बेहतर मानना चाहिए। अधिकार या कमिश्नर या सुपरिंटेंडेंट वगैरह नामों से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनती है जो

ठीक काम नहीं करता है, उसे कुछ साल बाद हम फिर चुनने से इनकार कर सकते हैं। इस तरह समझा जाता है कि शक्ति मुक्त होती है, ऊपर का दबाव उस पर नहीं आता है। इंग्लैण्ड में राज-कुल मौजूद है और अनुभव होता है कि शक्ति कस से बँध होती है, बहुत अस्थिर नहीं हो पाती राज की संस्था के कारण एक स्थिरता बनी रहती है। जिस को कम्युनिस्ट तन्त्र कहते हैं, चुनाव वहां भी है लेकिन दल अनेक नहीं हो पाते एक ही बना रहता है और लगभग शत प्रतिशत राय से शासन में चुना जाता और बागडोर थामे रखता है। वहां व्यक्ति-पूजा को गिरा कर समिति राज्य की पद्धति बनी है फिर भी दल को अधिनायकवाद कहने तक की दूसरों को सुविधा है। रूप से डिक्टेटर को स्थान नहीं दीखता, फिर भी डिक्टेटरशिप चलती तो दीखती है।

तन्त्र और नीति-बल

सच तो यह है कि शक्ति जहां किसी भी पद्धति से चुनाव से या शक्ति से असंख्य जनों के पास से, अर्थात् जनता से उठ कर कुछ गिनती के लोगों के पास पहुंचती और वहां से किसी एक के पास जान भी जाती है, तो ऐसे दंड-शक्ति के संस्थान का निर्माण होता है। ऐसा राज्य-तंत्र संस्कृति का अंग नहीं रहता। शक्ति की जगह यदि केवल वहां नीति केन्द्रित हो तो तन्त्र नैतिक और सांस्कृतिक बन जा सकता है। यों कहिए कि तन्त्र की नाम से नहीं काम से परख होती है। परख इस में है कि कितने अंश तक वह दंड-बल से काम करता और किस अंश तक नीति-बल से चलता है। जहां नीति ही बल है, वह राज्य शस्त्र-निर्भर नहीं होगा क्योंकि वह विश्वास-निर्भर हो सकेगा। इस पद्धति का राज्य नैतिक और मनोव्यापी होता है पहली विधि वाला अविश्वस्त जनता और कानून के दंड से प्रशासन चलाने को बाध्य होता है। गांधी जी के पास यही कसौटी थी और इसी दिशा में वह समाज और राज्य को बढ़ाना चाहते थे। पर शासन जन न रह कर सेवा का हो जाए, उस के आस-पास गर्व और गौरव के चिह्न न रहें नम्रता और अकिंचनता के गुण दीखें तो मानना चाहिए कि शासन राज्य से हम राम राज्य पर आए हैं। शक्ति प्रधान और नीति प्रधान राज्य की व्याख्या में जाने से अन्य गुण हाथ लग सकते हैं जो तन्त्र की विधि के सम्बन्ध में भी प्रकाश दें।

आधुनिक तन्त्र रजोगुण प्रधान

आज जिस सभ्यता के अधीन विश्व का राजनीतिक मानस चल रहा है

यहाँ सब तन्त्र दंडाधिकार और हिंसा-बल को अपना कर खड़े हुए हैं। हिंसा को जितना कम ज्यादा जहाँ उपयोग में लाना पड़ता है, अन्तर इतना ही है। वृत्ति आज और विश्वास सब का एक है और वह शक्ति-परक है। सब जगह आप देखेंगे कि राजसिक वृत्ति से प्रेरित व्यक्ति ऊपर पहुंचते हैं, सात्विक को पीछे और नीचे रहना पड़ता है। आज का राजा और राज-कारण रजोगुण प्रधान है। गांधी जी उसे सत्वगुण-प्रधान बनाना चाहते थे। विकास अन्ततः उसी दिशा में है और पूंजीवादी तन्त्र हो या साम्यवादी तन्त्र सब को क्रमशः उस दिशा में बढ़ते जाना है। दृष्टि जब उस आदर्श पर होगी तब तन्त्रवाद उतना प्रमुख नहीं रहेगा, प्रमुखता स्वयं मनुष्य को मिलती जाएगी।

मृत्यु

प्रश्न — मृत्यु आप किसे मानेंगे? मृत्यु के साथ भौतिक शरीर की समाप्ति तो प्रत्यक्ष दीखती ही है। क्या पूर्ण अन्तरंग व्यक्तित्व अहं और आत्मा भी इस मृत्यु के आ जाने पर नष्ट और निःसत्व हो जाते हैं?

उत्तर — मृत्यु द्वारा मानो वह सम्बद्धता का व्यापार असम्भव बन जाता है, जो अब तक उस अंश और अखिल के बीच था। सम्बन्ध की अनुभूति नहीं रहती। उस की मांग भी नहीं रहती। जीवन इस सम्बद्धता का नाम है। मृत्यु उस सम्बन्ध भंग को कहते हैं।

जन्म-मृत्यु, भ्रम, माया

जन्म और मृत्यु की कड़ी को सामने काम करते हुए तो नित्यप्रति हम देखते ही हैं। मैं तो शायद एक ही बार मर जाऊंगा लेकिन चारों तरफ जन्म-मृत्यु के दृश्य पुन-पुनः होते देखता हूं। जन्म-मृत्यु की इस शृंखला से आखिर जीव को छूटना तो है ही। क्या जीव मूलतः आत्मा नहीं है? क्या कभी आत्मा मरती है या जन्म लेती है? तो जीव को यदि आत्मत्व पाना है तो इस जन्म मृत्यु के निरन्तर की भव-बाधा से पार होना ही होगा। यह जन्म-मरण का खेल समष्टि के तल पर चल रहा है जैसे कि सागर के तल पर लहरें चलतीं और लहरों में बूंदें उछलती-गिरती हैं। उस महासागर के अखण्ड तल पर होती हुई इस लीला को मन में भर सकें तो जन्म-मृत्यु की सीमा का क्रम ही बन्ध जाता है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ नहीं मरता है, कुछ नहीं जीता है। मरना-जीना जो मालूम होता है सो स्वयं ही अपने में भ्रम है। 'मैं' माया है। माया का क्या जन्म और क्या उस का नाश?

अहं की व्यापक सार्थकता

इस दृष्टि से अहं का अर्थ व्यर्थ नहीं हो जाता है, केवल उस को व्यापक सार्थकता प्राप्त होती है। यदि मेरा पुनर्जन्म नहीं है केवल यही एक जन्म मिला है तो पाप-पुण्य की क्या चिन्ता भला क्या और बुरा क्या 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की नीति ही क्यों न चले—इत्यादि प्रश्न नहीं उठते। 'स्व' में से व्यर्थता और सार्थकता जब दोनों समाप्त होती हैं, तो कर्म का महत्व बढ़ जाता है, वह तुच्छ नहीं होता। इस तरह अनुताप-परिताप अथवा उत्सर्ग-विसर्जन में वृत्ति और हेतु की ही विशालता आती है, उन में निरर्थकता नहीं पैदा होती। मैं मानता हूं कि व्यक्ति यदि इस अनुभव से भरा हो कि उस का दुष्कर्म दूसरे नर को भी डुबोता तो शायद उस से दुष्कर्म न बने। भिन्नता और अहन्ता की तीव्रता ही मनुष्य को तुच्छता और द्रोह की ओर ले जाती है। विराट् का सन्दर्भ देने से अहं की क्रिया प्रक्रिया में जब कि अन्तर नहीं पड़ता तब मानस अवश्य विशद हो जाता है।

प्रश्न अहं की सत्ता आप स्पष्ट स्वीकार करते हैं और समष्टि में अहं के विसर्जन को आप मुक्ति मानते हैं। अहं के अस्तित्व में आने से ले कर विसर्जन तक जो उतार-चढ़ाव अहं को देखने पड़ते हैं वे क्या निश्चित रूप से एक ही जन्म में समाप्त हो जाते हैं? और क्या मृत्यु के समक्ष आने पर हर अहं समष्टि में विसर्जित हो ही जाता है?

उत्तर: नहीं अहं सदा-सदा के लिए अंश-रूप है। इसलिए उस की मृत्यु नहीं है। अपूर्णता और अतृप्ति सदा जीने के लिए है। जीवन-मृत्यु का अवसान केवल पूर्णता में है। भगवान न जीता है न मरता है। वह अस्ति-नास्ति से ऊपर है। इसलिए जो अपूर्ण है वह मर इसलिए नहीं सकता है कि उसे प्रकार-प्रकार से और फिर फिर जी कर पूरे होने के प्रयास में लगे ही रहना है।

अतृप्तियां अक्षय

मरते समय व्यक्ति में जितनी लालसाएं होती हैं उतनी अतृप्तियां। इन अतृप्तियों का क्या होगा? क्या वे व्यक्ति की हैं कि उस की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाएं? नहीं वे अतृप्तियां मानो अपने में से नई-नई सृष्टि करती हैं। मैं मानता हूं कि आदमी में से फूट कर जो आकांक्षाएं, आसक्तियां और अनुभूतियां चारों ओर अपने तन्तु फूटती हुई फैलती हैं देहान्त के बाद भी मानो वे जीती जागती रह जाती हैं। साहित्य क्यों जीता है जब कि कर्ता मर चुका होता है? ऐतिहासिक ग्रन्थ अनेक सृष्टियां क्यों हैं, जबकि इतिहास हर नए काल के

साथ स्वयं मरता जा रहा है। इसलिए कि मरता है वही मरता है, जन के द्वारा जो चरितार्थ हुआ रहता है, वह नहीं मरता है वह अमर बना रहता है। यह प्रतीति विश्वासी को कठिन नहीं होनी चाहिए कि मर कर आदमी केवल अपना और कुछ का नहीं रह जाता है बल्कि मृत्यु द्वारा वह सब का और महान का हो जाता है। यही प्रतीति है जो पहुँचे हुए पुरुषों को मृत्यु के समय हिलने नहीं देती है, बल्कि समाधिस्थ और आनन्दमग्न बनाए रखती है।

दो प्रतिनिधि कहानियाँ

जिनका चयन स्वयं जैनेन्द्र जी ने किया है

पाजेब

बाजार में एक नई तरह की पाजेब चली है। पैरों में पड़ कर वे बड़ी अच्छी मालूम होती हैं। उन की कड़ियाँ आपस में लचक के साथ जुड़ी रहती हैं कि पाजेब का मानो निज का आकार कुछ नहीं है, जिस पाँव में पड़े उसी के अनुकूल हो रहती है।

पास-पड़ौस में तो सब नन्हीं-बड़ी के पैरों में आप वही पाजेब देख लीजिए। एक ने पहनी कि फिर दूसरी ने भी पहनी। देखा-देखी में इस तरह उन का न पहनना मुश्किल हो गया है।

हमारी मुन्नी ने भी कहा कि बाबू जी, हम पाजेब पहनेंगे। बोलिए भला कठिनाई से चार बरस की उम्र और पाजेब पहनेगी।

मैं ने पूछा कि कैसी पाजेब?

बोली कि वही जैसी रुकमन पहनती है, जैसी शीला पहनती है।

मैं ने कहा कि अच्छा-अच्छा।

बोली कि मैं तो आज ही मंगा लूँगी।

मैं ने कहा कि अच्छा भाई, आज सही।

उस वक्त तो खैर मुन्नी किसी काम में बहल गई। लेकिन जब दोपहर आई मुन्नी की बुआ तब वह मुन्नी सहज मानने वाली न थी।

बुआ ने मुन्नी को मिठाई खिलाई और गोद में लिया और कहा कि अच्छा, तेरी पाजेब अब के इतवार को जरूर लेती आऊँगी।

(इतवार को बुआ आईं और पाजेब ले आईं। मुन्नी उन्हें पहन कर खुशी के मारे यहाँ-से-वहाँ छमकती फिरी। रुकमिन के पास गई और बोली—"देख रुकमिन मेरी पाजेब।" शीला को भी अपनी पाजेब दिखाई। सब ने पाजेब पहनी देख कर उसे प्यार किया और तारीफ की। सचमुच वह चाँदी की सफेद दो-

तीन लड़ियों-सी टखनों के चारों ओर लिपट कर, चुपचाप बिछी हुईं ऐसी सुन्दर लगती थीं कि बहुत ही और बच्ची की खुशी का ठिकाना न था।)

और हमारे महाशय आशुतोष जो मुन्नी के बड़े भाई थे, पहले तो मुन्नी को सजी-बजी देख कर बड़े खुश हुए। वह हाथ पकड़ कर अपनी बढ़िया मुन्नी को पाजेब-सहित दिखाने के लिए आस-पास ले गए। मुन्नी की पाजेब का गौरव उन्हें अपना भी मालूम होता था। वह खूब हँसे और ताली पीटी लेकिन थोड़ी देर बाद वह ठुमकने लगे कि मुन्नी को पाजेब दी तो हम भी बाइसिकल लेंगे।

बुआ ने कहा कि अच्छा बेटा अब के जन्म दिन को तुम्हें भी बाइसिकल दिलवाएँगे।

आशुतोष बाबू ने कहा कि हम तो अभी लेंगे।

बुआ ने कहा—"छी-छी तू कोई लड़की है? जिद तो लड़कियाँ किया करती हैं। और लड़कियाँ रोती हैं। कहीं बाबू साहब लोग रोते हैं!"

आशुतोष बाबू ने कहा कि तो हम बाइसिकिल जरूर लेंगे जन्म-दिन वाले रोज।

बुआ ने कहा कि हाँ यह बात पक्की रही जन्म-दिन पर तुम को बाइसिकिल मिलेगी।

इस तरह वह इतवार का दिन हँसी-खुशी पूरा हुआ। शाम होने पर बच्चों की बुआ चली गईं। पाजेब का शौक घड़ी-भर का था। वह फिर उतार कर रख रखा दी गई, जिस से कहीं खो न जाए। पाजेब वह बारीक और सुबुक काम की थी और थोड़े दाम लग गए थे।

श्रीमती ने हम से कहा कि क्यों जी लगती तो अच्छी है मैं भी एक बनवा लूँ।

मैं ने कहा कि क्यों न बनवाओ! तुम कौन चार बरस की नहीं हो!

और यह हुआ। पर मैं रात को अपनी मेज पर था कि श्रीमती ने आ कर पूछा कि तुम ने पाजेब तो नहीं देखी?

मैं ने आश्चर्य से कहा कि क्या मतलब?

बोली कि देखो यहाँ मेज-वेज पर तो नहीं है। एक तो सन्दूक में रखी है, पर दूसरे पैर की मिलती नहीं है। जाने कहाँ गई?

मैं ने कहा कि जाएगी कहाँ? यहीं कहीं देख लो। मिल जाएगी।

उन्हों ने मेरी मेज के कागज उठाने-धरने शुरू किए और आलमारी की किताबें टटोल डालने का भी मनसूबा दिखाया।

मैं ने कहा कि यह क्या कर रही हो? यहाँ वह कहाँ से आई?

जवाब में वह मुझ ही से पूछने लगीं तो फिर कहाँ है ?

मैं ने कहा—"तुम ने ही तो रक्खी होगी। कहाँ रक्खी थी ?"

बतलाने लगी कि उन्होंने दोपहर के बाद कोई दो बजे उतार कर दोनों को अच्छी तरह सम्भाल कर नीचे वाले बक्स में रख दिया था। अब देखा तो एक है, दूसरी गायब है।

मैं ने कहा कि तो चल कर वह इस कमरे में कैसे आ जाएगी ? भूल हो गई होगी। एक रक्खी होगी एक यहीं-कहीं फर्श पर छूट गई होगी। देखो मिल जाएगी। कहीं जा नहीं सकती।

इस पर श्रीमती कह-सुन करने लगीं कि तुम तो ऐसे ही हो। खुद लापरवाह हो दोष उल्टे मुझे देते हो। कह तो रही हूं कि मैं ने दोनों संभाल कर रखी थीं।

मैं ने कहा कि सम्भाल कर रखी थीं तो फिर यहाँ-वहाँ क्यों देख रही हो ? जहाँ रक्खी थीं वहीं से ले लो न। वहाँ नहीं है तो फिर किसी ने निकाल ली होगी।

श्रीमती बोलीं कि मेरा भी यही ख्याल हो रहा है। हो न हो बन्सी नौकर ने निकाली है। मैं ने रक्खी तब वह वहीं मौजूद भी था।

मैं ने कहा—"तो उस से पूछा ?"

बोलीं कि वह तो साफ इन्कार करता है।

मैं ने कहा—"तो फिर ?"

श्रीमती जोर से बोलीं कि तो फिर क्या बताऊं ? तुम्हें तो किसी बात की फिकर है नहीं। डांट कर कहते क्यों नहीं हो उस बंसी को बुला कर ? जरूर पाजेब उसी ने ली है ?

मैं ने कहा कि अच्छा तो उसे क्या कहना होगा ? यह कहूं कि ला भाई पाजेब दे दे।

श्रीमती झल्ला कर बोलीं कि हो चुका बस कुछ तुम से। तुम्हीं ने तो उस नौकर की जात को सहजोर बना रखा है। डांट न फटकार नौकर ऐसे सिर न चढ़ेगा तो क्या होगा।

मैं ने पूछा कि तो तुम्हारा क्या ख्याल है ?

बोलीं कि कह तो रही हूं कि किसी ने उसे बक्स में से निकाला ही है। और सोलह में पन्द्रह आने वह बंसी है।

मैं ने कहा कि मैं ने बंसी से पूछा था। उसने नहीं ली मालूम होती।

इस पर श्रीमती ने कहा कि तुम नौकरों को नहीं जानते। वे बड़े छंटे होते

है। जरूर बंसी ही चोर है। नहीं तो क्या खरीदते कैसे पाते।

मैं ने कहा कि तुम ने आशुतोष से भी पूछा ?

बोली—"पूछा था। वह तो खुद ट्रंक और बक्स के नीचे घुस-घुस कर खोज लगाने में मेरी मदद करता रहा है। वह नहीं ले सकता।

मैं ने कहा—"उसे पतंग का बड़ा शौक है।"

बोलीं कि तुम तो उसे बताते-बरजते कुछ हो नहीं। उमर होती आ रही है। वह यों ही रह जाएगा। तुम्हीं हो उसे पतंग की शह देने वाले।

मैं ने कहा कि जो कहीं पाजेब ही पड़ी मिल गई हो तो ?

बोलीं कि नहीं नहीं! मिलती तो वह बता न देता ?

खैर, बातों-बातों में मालूम हुआ कि उस शाम आशुतोष पतंग और एक डोर का पिन्ना नया लाया है।

श्रीमती ने कहा कि यह तुम्हीं हो जिसने पतंग की उसे इजाजत दी। बस सारे दिन पतंग-पतंग। यह नहीं कि कभी उसे बिठा कर सबक की भी कोई बात पूछो। मैं सोचती हूं कि एक दिन तोड़-ताड़ दूं उस की सब डोर और पतंग। हां तो, सारे बखत वही धुन!

मैं ने कहा कि खैर, छोड़ो। कल सवेरे पूछ-ताछ करेंगे।

सवेरे बुला कर मैं ने गम्भीरता से उस से पूछा कि क्यों बेटा, एक पाजेब नहीं मिल रही है, तुम ने तो नहीं देखी ?

वह गुम हो गया। जैसे नाराज हो। उसने सिर हिलाया कि उसने नहीं ली। पर मुंह नहीं खोला।

मैं ने कहा कि देखो बेटे, ली हो तो कोई बात नहीं सच कह देना चाहिए।

उसका मुंह और भी फूल आया। और वह गुम-सुम बैठा रहा।

मेरे मन में उस समय तरह-तरह के सिद्धान्त आए। मैं ने स्थिर किया कि अपराध के प्रति करुणा ही होनी चाहिए। रोष का अधिकार नहीं है। प्रेम से ही अपराध-वृत्ति को जीता जा सकता है। आतंक से उसे दबाना ठीक नहीं है। बालक का स्वभाव कोमल होता है और सदा ही उस से स्नेह से व्यवहार करना चाहिए, इत्यादि।

मैं ने कहा कि बेटा आशुतोष तुम घबराओ नहीं। सच कहने में घबराना नहीं चाहिए। ली हो तो खुल कर कह दो, बेटा! हम कोई सच कहने की सजा थोड़े ही दे सकते हैं। बल्कि सच बोलने पर तो इनाम मिला करता है।

आशुतोष तब घुनता हुआ बैठा रहा। उस का मुंह सूजा था। वह सामने मेरी आंखों में नहीं देख रहा था। रह-रह कर उसके माथे पर बल पड़ते थे।

"क्यों बेटे, तुम ने ली तो नहीं ?"

उसने सिर हिला कर क्रोध से अस्थिर और तेज आवाज में कहा कि— "मैं ने नहीं भी नहीं ली नहीं ली।" यह कह कर वह रोने को हो आया, पर रोया नहीं। आंखों में आंसू रोक लिए उसने।

उस वक्त मुझे प्रतीत हुआ उग्रता दोष का लक्षण है।

मैं ने कहा—"देखो बेटा, डरो नहीं अच्छा जाओ। ढूंढो, शायद कहीं पड़ी हुई वह पाजेब मिल जाए। मिल जाएगी तो हम तुम्हें इनाम देंगे।"

वह चला गया और दूसरे कमरे में जा कर पहले तो एक कोने में खड़ा हो गया। कुछ देर चुपचाप खड़े रह कर वह फिर यहां-वहां पाजेब की तलाश में लग गया।

श्रीमती आकर बोलीं—"आशू से तुम ने पूछ लिया ? क्या ख्याल है ?"

मैं ने कहा कि सन्देह तो मुझे होता है। नौकर का काम तो यह है नहीं।

श्रीमती ने कहा कि नहीं जी आशू भला क्यों लेता ?

मैं कुछ बोला नहीं। मेरा मन जाने कैसे गम्भीर प्रेम के भाव से आशुतोष के प्रति उमड़ रहा था। मुझे ऐसा मालूम होता था कि ठीक इस समय आशुतोष को हमें अपनी सहानुभूति से वंचित नहीं करना चाहिए, बल्कि कुछ अतिरिक्त स्नेह इस समय बालक को मिलना चाहिए। मुझे यह एक भारी दुर्घटना मालूम होती थी। मालूम होता था कि अगर आशुतोष ने चोरी की है तो उसका इतना दोष नहीं है बल्कि यह हमारे ऊपर बड़ी भारी इल्जाम है। बच्चे में चोरी की आदत भयावह हो सकती है। लेकिन बच्चे के लिए वैसी लाचारी उपस्थित हो आई, यह और भी कहीं भयावह है। यह हमारी आलोचना है। हम उस चोरी से बरी नहीं हो सकते।

मैं ने बुला कर कहा—"अच्छा सुनो। देखो मेरी तरफ देखो यह बताओ कि पाजेब तुम ने छुन्नू को दी है न ?"

वह कुछ देर कुछ नहीं बोला। उस के चेहरे पर रंग आया और गया। मैं एक-एक छाया ताड़ना चाहता था।

मैं ने आश्वासन देते हुए कहा कि कोई बात नहीं। हां हां, बोलो डरो नहीं। ठीक बताओ बेटे। कैसा हमारा सच्चा बेटा है।

मानो बड़ी कठिनाई के बाद उस ने अपना सिर हिलाया।

मैं ने बहुत खुश हो कर कहा कि दी है न छुन्नू को ?

उसने सिर हिला दिया।

अत्यन्त सांत्वना के स्वर में स्नेहपूर्वक मैं ने कहा कि मुंह से बोलो। छुन्नू

को दी है ?

उस ने कहा—"हां-मां।"

मैं ने अत्यन्त हर्ष के साथ दोनों बाहों में ले कर उसे उठा लिया। कहा कि ऐसे ही बोल दिया करते हैं अच्छे लड़के। आशू हमारा राजा बेटा है। गर्व के भाव से उसे गोद में लिए-लिए मैं उस की मां की ओर गया। उल्लासपूर्वक बोला कि देखो हमारे बेटे ने सच कबूल किया है। पाजेब उस ने चुन्नू को दी है।

सुन कर मां उस की खुश हो आई। उन्हों ने उसे चूमा। बहुत शाबाशी दी। और उसकी बलैयां लीं!

आशुतोष भी मुस्करा आया, अलबत्ता कि उस में उस जैसी खुशी नहीं हुई थी।

उस के बाद एकान्त में बात कर मैं ने उससे पूछा कि पाजेब चुन्नू के पास है न? जाओ मांग ला सकते हो उस से?

आशुतोष मेरी ओर देखता हुआ बैठा रह गया। मैं ने कहा कि जाओ बेटे, ले आओ।

उसने जवाब में मुंह नहीं खोला।

मैं ने आग्रह किया तो वह बोला कि चुन्नू के पास नहीं हुई तो वह कहां से देगा।

मैं ने कहा कि तो जिस को उस ने दी होगी उस का नाम बता देगा। सुन कर वह चुप हो गया। मेरे बार-बार कहने पर वह यही कहता रहा कि पाजेब चुन्नू के पास न हुई तो वह देगा कहां से?

अन्त में हार कर मैं ने कहा कि वह कहीं तो होगी। अच्छा, तुम ने कहां से उठाई थी?

"पड़ी मिली थी।"

"और फिर नीचे जा कर वह तुमने चुन्नू को दिखाई?"

"हां।"

"फिर उसी ने कहा कि इसे बेचेंगे?"

"हां।"

"कहां बेचने को कहा? कहा, मिठाई लाएंगे।"

"नहीं पतंग लाएंगे।"

"अच्छा पतंग को कहा?"

"हां!"

"तो उसी के पास होनी चाहिए न? या पतंग वाले के पास होगी। क्यों।

बैठा उस से ले आओ। कहना हमारे बाबू जी तुम्हें इनाम देंगे।"

वह जाना नहीं चाहता था। उसने फिर कहा कि छुन्नू के पास नहीं हुई तो कहाँ से देगा?

मुझे उस की जिद बुरी मालूम हुई। मैं ने कहा कि तो कहीं तुम ने उसे गाड़ दिया है? क्या किया है? बोलते क्यों नहीं?

वह मेरी ओर देखता रहा और कुछ नहीं बोला।

मैं ने कहा—'कुछ कहते क्यों नहीं?'

वह गुम-सुम रहा और नहीं बोला।

मैं ने डपट कर कहा कि जाओ जहाँ हो वहीं से पाजेब ले कर आओ।

जब वह अपनी जगह से नहीं उठा और नहीं गया तब मैं ने उसे कान पकड़ कर उठाया। कहा कि सुनते हो जाओ पाजेब ले कर आओ नहीं तो घर में तुम्हारा काम नहीं है।

उस तरह उठाया जा कर वह उठ गया और कमरे से बाहर निकल गया। निकल कर बरामदे के एक कोने में रूठा मुंह बना कर खड़ा रह गया।

मुझे बड़ा क्षोभ हो रहा था। यह लड़का सच बोल कर अब किस बात से घबरा रहा है यह मैं कुछ समझ न सका। मैं ने बाहर आ कर जरा धीरे से कहा कि जाओ भाई, जा कर छुन्नू से कहते क्यों नहीं हो?

पहले तो उस ने कोई जवाब नहीं दिया फिर बार-बार कहता रहा कि छुन्नू के पास नहीं हुई तो वह कहाँ से देगा?

मैं ने कहा कि जितने में उस ने बेची होगी वह दाम दे देंगे। समझे न जाओ तुम कहो तो।

छुन्नू की मां ने कहा है कि उस का लड़का ऐसा काम नहीं कर सकता। उसने पाजेब नहीं देखी।

जिस पर आशुतोष की मां ने कहा कि नहीं तुम्हारा छुन्नू झूठ बोलता है। क्यों रे आशुतोष तैं ने दी थी न?

आशुतोष ने धीरे से कहा कि हां दी थी।

दूसरी ओर से छुन्नू बढ़ कर आया और हाथ फटकार कर बोला कि मुझे नहीं दी। क्यों रे मुझे कब दी थी?

आशुतोष ने जिद बांध कर कहा कि दी तो थी। कह दो नहीं दी थी?

नतीजा यह हुआ कि छुन्नू की मां ने छुन्नू को खूब पीटा और वह खुद भी रोने लगी। कहती रही "हाय रे, अब हम चोर हो गए। यह कुलच्छनी औलाद जाने कब मिटेगी?

बात दूर तक फैल चली। पड़ोस की स्त्रियों में चर्चा पड़ने लगी और श्रीमती ने घर लौट कर कहा कि छुन्नू और उस की मां दोनों एक-से हैं।

मैं ने कहा कि तुम ने तेजा-तेजी क्यों कर डाली ? ऐसे कोई बात भला कभी सुलझती है !

बोली कि हां मैं तेज बोलती हूं। अब जाओ ना तुम्हीं उन के पास से पाजेब निकाल कर ला दो। तब जानूं जब पाजेब निकलवा दो।

मैं ने कहा कि पाजेब से बढ़ कर शान्ति है। और अशान्ति से तो पाजेब मिल नहीं जाएगी।

श्रीमती बुदबुदाती हुई नाराज हो कर मेरे सामने से चली गई।

थोड़ी देर बाद छुन्नू की मां हमारे घर आई। श्रीमती उन्हें लाई थीं। अब उन के बीच गर्मी नहीं थी। उन्हों ने मेरे सामने आ कर कहा कि छुन्नू तो पाजेब के लिए इन्कार करता है। वह कितने की थी मैं उस के दाम भर सकती हूं।

मैं ने कहा— 'यह आप क्या कहती हैं। बच्चे बच्चे हैं। आप ने छुन्नू से सहूलियत से पूछा भी ?"

उन्होंने उसी समय छुन्नू को बुला कर मेरे सामने कर दिया। कहा कि क्यों रे, बता क्यों नहीं देता जो तैं ने पाजेब देखी हो ?

छुन्नू ने जोर से सिर हिला कर इनकार किया और बताया कि पाजेब आशुतोष के हाथ में मैं ने देखी थी और वह पतंग वाले को दे आया है। मैं ने खूब देखी थी वह चांदी की थी।

'तुम्हें ठीक मालूम है ?"

"हां वह मुझ से कह रहा था कि तू भी चल। पतंग लाएंगे।"

"पाजेब कितनी बड़ी थी ? बताओ तो।

छुन्नू ने उसका आकार बताया जो ठीक ही था।

मैं ने उस की मां की तरफ देख कर कहा कि देखिए न पहले यही कहता था कि मैं ने पाजेब देखी तक नहीं। अब कहता है कि देखी है।

मां ने मेरे सामने छुन्नू को खींच कर तभी धम्म-धम्म पीटना शुरू कर दिया। कहा कि क्यों रे, झूठ बोलता है ? तेरी चमड़ी न उधेड़ी तो मैं नहीं।

मैं ने बीच-बचाव कर के छुन्नू को बचाया। वह शहीद की भांति पिटता रहा था। रोया बिल्कुल नहीं था और एक कोने में खड़े आशुतोष को जाने किस भाव से वह देख रहा था।

खैर मैं ने सब को छुट्टी दी। कहा कि जाओ बेटा छुन्नू खेलो। उस की मां से कहा कि आप उसे मारियेगा नहीं। पाजेब कोई ऐसी बड़ी चीज नहीं है।

छुन्नू चला गया। तब उस की माँ ने पूछा कि आप उसे कसूरवार समझते हो ?

मैं ने कहा कि मालूम तो होता है कि उसे कुछ पता है और वह मामले में शामिल है।

इस पर छुन्नू की माँ ने पास बैठी हुई मेरी पत्नी से कहा—"चलो बहन जी मैं तुम्हें अपना सारा घर दिखाए देती हूँ। एक-एक चीज देख लो। होगी पाजेब तो जाएगी कहाँ ?"

मैं ने कहा 'छोड़िए जी। बे-बात की बात बढ़ाने से क्या फायदा।"

सो ज्यों-त्यों मैं ने उन्हें दिलासा दिया। नहीं तो वह छुन्नू को पीट-पीट हाल-बेहाल कर डालने का प्रण ही उठाए ले रही थी। कुलच्छनी आज उसी धरती में नहीं गाड़ दिया तो मेरा नाम नहीं।

खैर, जिस-तिस भाँति बखेड़ा टाला। मैं इस झंझट में दफ्तर भी समय पर नहीं जा सका। जाते वक्त श्रीमती को कह गया कि देखो आशुतोष को धमकाना मत। प्यार से सारी बातें पूछना। धमकाने से बच्चे बिगड़ जाते हैं और हाथ कुछ नहीं आता। समझीं न ?

शाम को दफ्तर से लौटा तो श्रीमती ने सूचना दी कि आशुतोष ने सब कुछ बतला दिया है। ग्यारह आने पैसे में वह पाजेब पतंग वाले को दे आया है। पैसे उस ने थोड़े-थोड़े कर के देने को कहे हैं। पाँच आने जो दिए वे छुन्नू के पास हैं। इस तरह रत्ती रत्ती बात उस ने कह दी है।

कहने लगीं कि मैं ने बड़े प्यार से पूछ-पूछ कर यह सब उस के पेट में से निकाला है। दो-तीन घण्टे मैं मगज मारती रही। हाय राम बच्चे का भी क्या जी होता है।

मैं सुन कर खुश हुआ। मैं ने कहा कि चलो अच्छा है, अब पाँच आने देकर पाजेब मँगा लेंगे। लेकिन यह पतंग वाला भी कितना बदमाश है, बच्चों के हाथ से ऐसी चीजें लेता है। उसे पुलिस में दे देना चाहिए। उचक्का कहीं का !

फिर मैं ने पूछा कि आशुतोष कहाँ है ?

उन्हों ने बताया कि बाहर ही कहीं खेल-खाल रहा होगा।

मैं ने कहा कि बंसी जा कर उसे बुला तो लाओ।

बंसी गया और उस ने आ कर कहा कि वह अभी आते हैं।

"क्या कर रहा है ?"

'छुन्नू के साथ गिल्ली-डण्डा खेल रहे हैं।"

थोड़ी देर में आशुतोष आया। तब मैं ने उसे गोद में लेकर प्यार किया।

आते-आते उस का चेहरा उदास हो गया था और गोद में लेने पर भी वह विशेष प्रसन्न नहीं मालूम हुआ।

उस की माँ ने खुश हो कर कहा कि हमारे आशुतोष ने सब बातें अपने आप पूरी पूरी बता दी हैं। हमारा आशुतोष बड़ा सच्चा लड़का है।

आशुतोष मेरी गोद में टिका रहा। लेकिन अपनी बड़ाई सुन कर भी उस को कुछ हर्ष नहीं हुआ प्रतीत होता था।

मैं ने कहा कि जाओ चलो। अब क्या बात है। क्यों हजरत तुम को पाँच आने तो मिले हैं न? हम से पाँच आने माँग लेते तो हम क्या न देते? सुना अब से ऐसा मत करना बेटे!

कमरे में ले जा कर मैं ने उस से फिर पूछ-ताछ की "क्यों बेटा, पतंग वाले ने पाँच आने तुम्हें दिए न?"

"हाँ!"

"और छुन्नू के पास हैं?

"हाँ!"

"अभी तो उस के पास होंगे न?"

"नहीं।"

"खर्च कर दिए?''

"नहीं।"

"नहीं खर्च किए?"

"हाँ।"

"खर्च किए कि नहीं खर्च किए?''

उस ओर से प्रश्न करने पर वह मेरी ओर देखता रहा। उस ने उत्तर नहीं दिया।

"बताओ खर्च कर दिए कि अभी हैं?"

जवाब में उस ने एक बार 'हाँ" कहा और दूसरी बार "नहीं" कहा।

मैं ने कहा कि तो यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हें नहीं मालूम है?

हाँ।"

"बेटा मालूम है न?"

"हाँ।"

"पतंग वाले से पैसे छुन्नू ने लिए हैं न?"

"हाँ।"

"तुम ने क्यों नहीं लिए?"

वह चुप।

"पाँचों इकन्नियाँ थीं, या दुअन्नी और पैसे भी थे ? '

वह चुप।

'बतलाते क्यों नहीं हो ?

चुप।

"इकन्नियाँ कितनी थीं बोलो ?"

'दो।

"बाकी पैसे थे ?

हाँ।

'दुअन्नी नहीं थी ?"

"हाँ।"

"दुअन्नी थी ?"

"हाँ।

मुझे क्रोध आने लगा। डपट कर कहा कि सच क्यों नहीं बोलते जी ? सच बताओ कितनी इकन्नियाँ थीं और कितना क्या था ?

वह गुम-सुम खड़ा रहा कुछ नहीं बोला।

"बोलते क्यों नहीं ?

वह नहीं बोला।

'सुनते हो। बोलो' 'नहीं तो ।"

आशुतोष डर गया और कुछ नहीं बोला।

"सुनते नहीं मैं क्या कह रहा हूँ ?

इस बार भी वह नहीं बोला तो मैं ने पकड़ कर उस के कान खींच लिए। वह बिना आँसू लाए गुम-सुम खड़ा रहा।

'अब भी नहीं बोलोगे ?"

वह डर के मारे पीला हो गया। लेकिन बोल नहीं सका। मैं ने ज़ोर से बुलाया 'बंसी यहाँ आओ इस को ले जा कर कोठरी में बन्द कर दो।"

बंसी नौकर उसे उठा कर ले गया और कोठरी में मूँद दिया।

दस मिनट बाद मैं ने फिर उसे पास बुलवाया। उस का मुँह सूजा हुआ था। बिना कुछ बोले उस के ओंठ हिल रहे थे। कोठरी में बन्द हो कर भी वह रोया नहीं।

मैं ने कहा "क्यों रे, अब तो अकल आई ?'

वह सुनता हुआ गुम-सुम खड़ा रहा।

"अच्छा खंभ वाला कौन-सा है? दाईं तरफ का वह चौराहे वाला?"

उस ने कुछ ओठों में ही बड़-बड़ा दिया जिसे मैं कुछ न समझ सका।

वह चौराहे वाला? बोलो "

'हां।'

'देखो अपने चाचा के साथ चले जाओ। बता देना कि कौन सा है। फिर उसे स्वयं कुछ मत कहना। समझे हो न?

यह कह कर मैं ने अपने भाई को बुलवाया। सब बात समझा कर कहा "देखो पांच आने के पैसे ले जाओ। पहले तुम दूर रहना। आशुतोष पैसे ले जा कर उसे देगा और अपनी पाजेब मांगेगा। अव्वल तो वह पाजेब लौटा ही देगा। नहीं तो उसे डांटना और कहना कि तुझे पुलिस के सुपुर्द कर दूंगा। बच्चों से माल ठगता है? समझे? नरमी की जरूरत नहीं है।"

"और आशुतोष अब जाओ अपने चाचा के साथ जाओ।"

वह अपनी जगह पर खड़ा था। सुन कर भी टस-से-मस होता दिखाई नहीं दिया।

"नहीं जाओगे?"

उस ने सिर हिला दिया कि नहीं जाऊंगा।

मैं ने तब उसे समझा कर कहा कि भैया घर की चीज है, दाम लगे हैं। भला पांच आने में रुपयों का माल किसी के हाथ खो दोगे? जाओ चाचा के संग जाओ। तुम्हें कुछ नहीं कहना होगा। हां पैसे दे देना और अपनी चीज वापिस मांग लेना। दे दे दे दे, नहीं दे नहीं दे। तुम्हारा इस से सरोकार नहीं। सच है न बेटे। अब जाओ।

पर वह जाने को तैयार ही नहीं दीखा। मुझे लड़के की गुस्ताखी पर बड़ा बुरा मालूम हुआ। "बोलो इस में बात क्या है? इस में मुश्किल कहां है? समझा कर बात कर रहे हैं सो समझता ही नहीं, सुनता ही नहीं।"

मैं ने कहा कि क्यों रे नहीं जायगा?

उस ने फिर सिर हिला दिया कि नहीं जाऊंगा।

मैं ने प्रकाश, अपने छोटे भाई को बुलाया। कहा "प्रकाश इसे पकड़ कर ले जाओ।"

प्रकाश ने उसे पकड़ा और आशुतोष अपने हाथ-पैरों से उस का प्रतिकार करने लगा। वह साथ जाना नहीं चाहता था।

मैं ने अपने ऊपर बहुत जब्र कर के फिर आशुतोष को पुचकार कर कहा कि

जाओ भाई। डरो नहीं। अपनी चीज घर में आएगी। इतनी-सी बात समझते नहीं। प्रकाश इसे गोदी में ले जाओ और जो चीज मांगे उसे बाजार से दिलवा देना। जाओ भाई आशुतोष।

पर उस का मुंह फूला हुआ था। जैसे-तैसे बहुत समझाने पर वह प्रकाश के साथ चला। ऐसे चला मानो पैर उठाना उसे भारी हो रहा हो। आठ बरस का यह लड़का होने आया फिर भी देखो न कि किसी भी बात की उस में समझ नहीं है। मुझे जो गुस्सा आया तो क्या बतलाऊं। लेकिन यह कर के कि गुस्से से बच्चे समझने की जगह बिगड़ते हैं मैं अपने को दबाता चला गया। और वह गया तो मैं ने चैन की सांस ली।

लेकिन देखता क्या हूं कि कुछ देर में प्रकाश लौट आया है।

मैं ने पूछा— "क्यों?"

बोला कि आशुतोष भाग आया है।

मैं ने कहा कि अब वह कहां है?

"वह रूठा खड़ा है, घर में नहीं आता।"

"जाओ पकड़ कर तो लाओ।"

वह पकड़ा हुआ आया। मैं ने कहा "क्यों रे तू शरारत से बाज नहीं आएगा? बोल जाएगा कि नहीं?"

वह नहीं बोला तो मैं ने कस कर उसे दो चांटे दिये। थप्पड़ लगते ही वह एक दम चीखा पर फौरन चुप हो गया। वह वैसे ही मेरे सामने खड़ा रहा।

मैं ने उसे देख कर मारे गुस्से से कहा कि ले जाओ इसे मेरे सामने से। जा कर कोठरी में बन्द कर दो। दुष्ट!

इस बार वह आध-एक घंटे बन्द रहा। मुझे ख्याल आया कि मैं ठीक नहीं कर रहा हूं, लेकिन जैसे कि दूसरा रास्ता न दीखता था। मार-पीट कर मन को ठिकाना देने की आदत पड़ गई थी, और कुछ अभ्यास न था।

और मैं ने इस बीच प्रकाश को कहा कि तुम दोनों पतंग वालों के पास जाओ। मालूम करना कि किस ने पाजेब ली है। होशियारी से मालूम करना। मालूम होने पर सख्ती करना। मुरव्वत की जरूरत नहीं। समझे?

प्रकाश गया पर लौटने पर बताया कि किसी के पास पाजेब नहीं है।

सुन कर मैं झल्ला आया बोला कि तुम से कुछ काम नहीं हो सकता। जरा-सी बात नहीं हुई तुम से क्या उम्मीद रखी जाए?

वह अपनी सफाई देने लगा। मैं ने कहा "बस तुम जाओ।"

प्रकाश मेरा बहुत लिहाज करता था। वह मुंह डाल कर चला गया। कोठरी

खुलवाने पर आशुतोष को फर्श पर सोता पाया। उस के चेहरे पर अब भी आंसू नहीं थे। सच पूछो तो मुझे उस समय बालक पर करुणा हुई। लेकिन आदमी में एक ही साथ जाने क्या-क्या विरोधी भाव उठते हैं।

मैं ने उसे जगाया। वह हड़बड़ाकर उठा। मैं ने कहा "कहो क्या हालत है?"

थोड़ी देर तक वह समझा ही नहीं। फिर शायद पिछला सिलसिला याद आया। झट उस के चेहरे पर वे ही जिद अकड़ और प्रतिरोध के भाव दिखाई देने लगे।

मैं ने कहा कि या तो अभी राजी चले जाओ नहीं तो इस कोठरी में फिर बन्द किए देते हैं।

आशुतोष पर इस का विशेष प्रभाव पड़ा हो ऐसा नहीं मालूम हुआ।

और उसे पकड़ कर लाया और समझाने लगा। मैं ने निकाल कर उसे एक रुपया दिया और कहा "बेटा इसे पतंग वाले को देना और पाजेब मांग लेना। कोई घबराने की बात नहीं। तुम तो समझदार लड़के हो।"

उस ने कहा कि जो पाजेब उस के पास न हुई तो वह कहां से देगा?

"इस का क्या मतलब, तुम ने कहा न कि पांच आने में पाजेब दी है? न हो छुन्नू को भी साथ ले लेना। समझे?"

वह चुप हो गया। आखिर समझाने पर जाने को तैयार हुआ। मैं ने प्रेम पूर्वक उसे प्रकाश के साथ जाने को कहा। उस का मुंह भारी देख कर डाटने वाला ही था कि इतने में सामने उस की बुआ दिखाई दीं।

बुआ ने आशुतोष के सिर पर हाथ रख कर पूछा कि कहां जा रहे हो? मैं तो तुम्हारे लिए केले और मिठाई लाई हूं।

आशुतोष का चेहरा रूठा ही रहा। मैं ने बुआ से कहा कि उसे रोको मत जाने दो।

आशुतोष रुकने को उद्यत था। वह चलने में आनाकानी दिखाने लगा।

बुआ ने पूछा "क्या बात है?"

मैं ने कहा "कोई बात नहीं जाने दो न उसे।"

पर आशुतोष मचलने पर आ गया था। मैं ने डांटकर कहा "प्रकाश इसे ले क्यों नहीं जाते हो?"

बुआ ने कहा कि बात क्या है? क्या बात है?

मैं ने पुकारा "तू बंसी भी साथ जा। बीच से लौटने न पावे।" सो मेरे आदेश पर दोनों आशुतोष को जबरदस्ती उठा कर सामने से ले गए।

बुआ ने कहा— "क्यों उसे सता रहे हो ?"

मैं ने कहा कि कुछ नहीं, यों ही।

फिर मैं उन के साथ इधर-उधर की बातों में बैठा। राजनीति राष्ट्र की ही नहीं होती, मुहल्ले में भी राजनीति होती है। यह भार स्त्रियों पर टिकता है। कहां क्या हुआ, क्या होना चाहिए इत्यादि चर्चा स्त्रियों को ले कर रंग फैलाती है। इसी प्रकार की कुछ बातें हुईं, फिर छोटा-सा बक्सा सरका कर बोलीं— "इस में वह कागज है जो तुम से मांगे थे। और यह—"

यह कह कर उन्होंने अपनी वास्कट की जेब में हाथ डाल कर पाजेब निकाल कर सामने की, जैसे सामने बिच्छू हो। मैं भयभीत भाव से कह उठा कि यह क्या ?

बोलीं कि उस रोज भूल से यह एक पाजेब मेरे साथ ही चली गई थी।

—'जैनेन्द्र की कहानियां'—भाग २ से

जाह्नवी

आज तीसरा रोज है। 'तीसरा नहीं, चौथा रोज है।' वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सवेरे उठ और कमरे से बाहर की ओर झांका तो देखा, मुहल्ले के एक मकान की छत पर कांव-कांव करते हुए कौओं से घिरी एक लड़की खड़ी है। खड़ी-खड़ी बुला रही है—"कौओ आओ, कौओ आओ। कौए बहुत काफी आ चुके हैं, पर और भी आते-जाते हैं। वे छत की मुंडेर पर बैठ अधीरता से पंख हिला-हिला कर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौओं की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला ही रही है—"कौओ आओ, कौओ आओ।"

देखते-देखते छत की मुंडेर कौओं से बिल्कुल काली पड़ गई। उन में से कुछ अब उड़-उड़ कर लड़की की चोटी से आ टकराने लगे। कौओं के खूब आ घिरने पर लड़की गाती उन आमंत्रित अतिथियों के प्रति गाने लगी—

कागा चुन-चुन खाइयो ।

गाने के साथ उस ने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़ कर नन्हे-नन्हे टुकड़े भी चारों ओर फेंकने शुरू किए। गाती जाती थी—

कागा चुन-चुन खाइयो ।

यह क्रम मालूम होती थी और अनायास उस की देह थिरक कर नाच-सी

गाती थी। कौए घूम घूम आ रहे थे और वह गा रही थी—

काग्गा चुग-चुग खाइयो ।

आगे वह क्या गाती है कौओं की कांव-कांव और उन के पंखों की फड़फड़ाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौए लपक-लपक कर मानो टूटने से पहले उस के हाथों से टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे आ रहे थे मानो प्रेम से उस को ही खाने को उद्यत हों। और लड़की कभी इधर कभी उधर झुक कर घूमती हुई ऐसे लीन भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी समाप्त होने लगी। कौए भी यह समझ गए। जब अन्तिम टुकड़ा हाथ में रह गया तब वह गाती हुई उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई ज़ोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उस ने वह टुकड़ा ऊपर आसमान की ओर फेंका— 'कौओ खाओ कौओ खाओ।" और बहुत-से कौए एक ही साथ उड़ कर उसे लपकने झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की मानो आनन्द में चीखती हुई-सी आवाज में गा उठी—

दो नना मत खाइयो, मत खाइयो
पीउ मिलन की आस।

रोटियां खतम हो गई। कौए उड़ चले। लड़की एक-एक कर उन को उड़ कर जाते हुए देखने लगी। पल भर में छत कोरी हो गई। अब वह आसमान के नीचे अकेली अपनी छत पर खड़ी थी। आस-पास बहुत-से मकानों की बहुत-सी छतें थीं। उन पर कोई होगा कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौओं को उड़ते जाते हुए देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। लड़की के ओठ खुले थे दृष्टि थिर थी। न जाने भूली-सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उस ने मानो जागकर अपने आसपास के जगत् को भी देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा ? देखा भी हो पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उस के देखने में सचमुच कुछ दीखता ही था यह मैं कह नहीं सकता। पर, कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्तमान के प्रति वास्तविकता के प्रति चेतन हो आई। तब फिर बिना देर लगाए खट-खट उतरती हुई वह नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूं कि कौए कहां कहां उड़ रहे हैं और व कितनी दूर चले गए हैं। क्या वे कहीं दीखते भी हैं ? पर मुश्किल से मुझे दो-एक ही कौए दीखे। वे निरपेक्ष भाव से यहां बैठे थे या वहां उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उन की काली देह और

काली चोंच मन को बुरी लगी। मैं ने सोचा कि नहीं अपनी देह मैं कौओं से नहीं नुचवाऊंगा। छि: चुन चुन कर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? मेरी देह और कौए? छी।

जान पड़ता है खड़े-खड़े मुझे काफी समय खिड़की पर ही हो गया क्योंकि इस बार देखा कि ढेर-के-ढेर कपड़े कन्धे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आ गई है। इस बार वह गाती नहीं है, वहां पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है और उन कपड़ों में से एक-एक को चुन कर झटक कर, वहीं छत पर फैला देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाए जाते रहे, झटके जाते रहे, फैलाए जाते रहे, पर उन का अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर जब खत्म हो गए तब लड़की ने सिर पर आए हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उस ने एक अंगड़ाई सी फिर सिर को जोर से हिला कर अनबंधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे धीमे वहीं डोल कर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने ला कर देखती फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उस के बाल गहरे काले थे और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने यौवन पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह अंगुलियां फेर-फेर कर अपने बालों को अलग अलग छिटकाती रही। फिर चलते चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा सा बांध पल्ला सिर पर खींच वह नीचे उतर गई।

इस के बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कालिज में पढ़ती है। मैं ने कहा—"सुनो यहां आओ।

उस ने हंस कर पूछा—"यहां कहां?

खिड़की के पास आ कर मैं ने पूछा—"क्यों जी जाह्नवी का मकान जानती हो?

"जाह्नवी? क्यों वह कहां है?"

"मैं क्या जानता हूं कि कहां है। पर देखो वह घर तो उस का नहीं है?"

उस ने कहा "मैं ने घर नहीं देखा। इधर उस ने कालिज भी छोड़ दिया है।"

"चलो अच्छा है" मैं ने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला क्योंकि वह पूछने लगी थी कि क्या काम है जाह्नवी को मैं क्या और कैसे और क्यों जानता हूं। सच यह था कि मैं रत्ती भर उसे नहीं जानता था। एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह एक को देखा था।

गया था कि वह जादूगरी है, और मैं ने अनायास स्वीकार कर लिया था कि अच्छा वह जादूगरी होगी। उस के बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जादूगरी का क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाई को बहनोई के मुंह से सुन कर स्वीकार कर लें तो खाली क्या—तिस पर सचाई ऐसी कि भौंचक! पर ज्यों-त्यों मैं ने टाला।

बात-बात में मैं ने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जादूगरी को जानती हो ऐसी ही तुम उस के साथ पढ़ती थी कि बस बात पर कह दिया—'मालूम नहीं।' लेकिन मैं ने कुछ कहा नहीं।

इस के बाद सोमवार हो गया मंगलवार हो गया और आज बुध भी हो कर चुका जा रहा है। चौथा रोज है। हर रोज सवेरे खिड़की पर दीखता है कि कौए कांव कांव छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों को मिस कह रही है

कागा चुन-चुन खाइयो ।

मुझ को नहीं मालूम कि कौए जो कुछ उस का खाएंगे उसे कुछ भी उस का सोच है। कौओं को बुला रही है—"कौओ आओ, कौओ आओ!' शायद कह रही है—"कौओ खाओ कौओ खाओ!" वह खुश है कि कौए आ गए हैं और वे खा रहे हैं। पर एक बात है। वह कहती है कि ओ कौओ यह तन चुन चुन कर सब निबटा देना लेकिन ऐ मेरे भाई कौओ इन दो नैनों का छोड़ देना। इन्हें नहीं मत खा लेना। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस बसी है जो पराए के बस है। वे नैना पीउ की बाट में हैं। ऐ कौओ वे मेरे नहीं हैं मेरे तन के नहीं हैं। वे पीउ की आस को बचाए रखने के लिए हैं। सो उन्हें छोड़ देना।"

आज सवेरे भी मैं ने यह सब कुछ देखा। कौओं को रोटी खिला कर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत से कपड़े धो कर लाई। उसी भांति उन्हें झटक कर फैला लिया। वैसे ही बाल छितरा कर थोड़ी देर वह बैठी। फिर सहसा ही उन्हें जूड़े में संभाल कर नीचे लौट गई।

जादूगरी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे खास तौर पर देख लेने को कहा था और उस के चले जाने पर पूछा था—"क्यों कैसी है?"

मैं ने कहा था—"बहुत अच्छी मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?"

"अपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी?"

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुंचा है।

मैं ने कहा—"अरे, जजमान ! यह उस के सामने बच्चा है।

पत्नी ने अचरज से कहा—"बच्चा है। बाईस बरस का तो हुआ।

'बाईस छोड़ बयालीस का भी हो जाए। देखा नहीं कैसे ठाठ से रहता है। यह लड़की देखो कैसी बस सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू इस के लायक कहां है ? यों भी कह सकती हो कि यह बेचारी लड़की बिरजू के ठाठ के लायक नहीं है।

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग्य की। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि पत्नी जी की कोशिशों से जाह्नवी के मां बाप से (मां के द्वारा बाप से) काफी आगे तक बढ़ कर बातें कर भी गई हैं। शादी के मौके पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तय होती जा रही हैं।

इतने में सब किए-कराए पर पानी फिर गया। जब बात कूल किनारे पर आ गई थी, तभी हुआ यह कि हमारे जजमान के पास एक पत्र आया। उस पत्र के कारण एकदम सब चौपट हो गया। इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नी जी का मन पहले तो गिर कर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा, पर फिर वह उसी पर बड़ी खुश मालूम होने लगीं।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूं ही। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह

पत्नी जी एक दिन सामने आ धमकीं। बोलीं—'यह तुम ने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?"

मैं ने कहा—'जाह्नवी के बारे में मैं ने पहले से क्या नहीं बतलाया भाई ?"

"यह कि वह कैसी है ? '

मैं ने पूछा—"ऐसी कैसी ?"

उन्हों ने कहा—"बनो मत। जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम !'

मैं ने कहा—'अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन आखिर जाह्नवी के बारे मुझे क्या-क्या मालूम है, वह तो मालूम हो।"

श्रीमती जी ने महाविम आश्चर्य से कहा—"बिरजू के पास पत्र आया है, सो तुम ने कुछ नहीं सुना ? आजकल की लड़कियां बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो "

क्या मामला कहां कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो

पड़ा तो उस बिना जाने मैं क्या निवेदित करता ? मैं ने कहा—"कुछ बात साफ भी कहो।"

उन्हों ने कहा—"वह लड़की भावनाई में फंसी थी। पढ़ी-लिखी सब एक बात की होती हैं।"

मैं ने कहा—"सब की जात-बिरादरी एक हो जाए तो बखेड़ा टल। लेकिन असल बात भी तो बताओ।"

"असल बात जाननी है तो जा कर पूछो उस की महतारी से। भली समधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले ही से ढंग में काला मालूम होता था। पर देखो न कैसी सीधी-भोली बातें करती थी। वह तो देर क्या थी, सब हो ही चुका था। बस लगन-महूर्त की बात थी। राम राम भीतर पेट में कैसी कालिख रक्खे है, मुझे पता न था। चलो आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की घर में आ जाती तो मेरा मुंह अब दिखने लायक रहता।"

मेरी पत्नी का मुख क्यों किस भांति दिखाने लायक न रहता उस में क्या विकृति आ रहती सो उन की बातों से समझ में न आया। उन की बातों में रस कई भांति का मिला तथ्य न मिला। कुछ देर के बाद उन बातों से मैं ने तथ्य पाने का यत्न ही छोड़ दिया और चुपचाप मैं पाप-पुण्य धर्म-अधर्म का विवेचन सुनता रहा। पता लगने पर मालूम हुआ कि ब्रज मोहन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैं ने देखा। उस पत्र को देख कर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो ?—मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मन में उठी है और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है और मैं शून्य-भाव से हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है उस को मात्र देखता रह गया हूं।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-सादे ढंग से उस में यह लिखा था कि "आप जब विवाह के लिए यहां पहुंचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पाएंगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझ में नहीं है। एक अनुगता आप को विवाह द्वारा मिलनी चाहिए। वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूं या हो सकती हूं इस में मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें, आप के माता-पिता चाहें, तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूं। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूंगी आप के चरणों की धूलि माथे से लगाऊंगी। आप की कृपा मानूंगी। कृतज्ञ होऊंगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर अपनी दया रखा लेंगे मुझे छोड़ देंगे तो

भी मैं कृतज्ञ होऊंगी। निर्णय आप के हाथ है। जो चाहें, करें।"

मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आ कर भी आश्चर्य नहीं होता। उस ने पुख्ता के साथ कह दिया कि मैं यह शादी नहीं करूंगा। लेकिन उस ने मुझ से अकेले में यह भी कहा कि चाचा जी मैं और विवाह करूंगा ही नहीं करूंगा तो उसी से करूंगा। उस प्रण को वह अपने से अलहदा नहीं करता है और मैं देखता हूं कि उस ब्रजनन्दन का ठाठ-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति गर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था अब विनयावनत दीखता है और आवश्यक से अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रदर्शिनी में मिल गया। मैं तो देख कर हैरत में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैं ने कहा—"ब्रजनन्दन कहो क्या हाल है ?"

उस ने प्रणाम करके कहा— अच्छा है।

वह मेरे घर पर भी आया।

पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत-बहुत बधाइयां दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से बचो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जानकी नाम की लड़की की एक-एक छिपी बात बिरजू की चाची को मालूम हो गई है। वे बातें—ओह, कुछ न पूछो बिरजू भैया! मुंह से भगवान किसी की बुराई न कराए। लेकिन ..."

फिर कहा— 'भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलाएं, तू ही बता। क्यों रे, अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा? सुनता है कि नहीं?"

ब्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा— 'और यह तुझे हो क्या गया है? अपने चाचा की बातें तुझे भी लग गई हैं क्या? न ढंग के कपड़े न रीति की बातें। उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोहते नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है रे?

ब्रजनन्दन ने कहा—"कुछ नहीं चाची! और कपड़े पर रखा है।"

अकेले पा कर मैं ने भी उस से कहा—"ब्रजनन्दन बात तो सही है। अब शादी कर के काम में लगना चाहिए और घर बसाना चाहिए। है कि नहीं?"

ब्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े बूढ़े की तरह कहा—"अभी तो उमर पड़ी है, चाचा जी!"

मैं ने इस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को सोमवार को मंगलवार को और आज

बुधवार को भी सबेरे-ही-सबेरे छत पर नित रोटी के मिस कौओं को पुकार पुकार कर बुलाने-खिलानेवाली यह जो लड़की देख रहा हूं सो क्या जाह्नवी है? जाह्नवी को मैं ने एक ही बार देखा है, इसलिए, मन को कुछ निश्चय नहीं होता। कद भी इतना ही। लावण्य शायद उस जाह्नवी में अधिक था। पर यह नहीं है जाह्नवी नहीं है, ऐसी दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूं। सबेरे-सबेरे इतने कौए जुटा लेती है कि सुन्दर दीखते ही नहीं, काले-काले वे-ही-वे दीखते हैं। और वे भी उस के चारों ओर ऐसी छीन झपट सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानो बड़े स्वाद से बड़े प्रेम से चोंच-चोंच कर उसे खाने के लिए आपस में बदाबदी मचा रहे हैं। पर उन से घिरी वह कहती है—"आओ कौओ आओ।" जब वे आ जाते हैं तब गाती है—

कागा चुन-चुन खाइयो!

और जब जाने कहां-कहां के कौए इकट्ठे के इकट्ठे कांव-कांव करते हुए चुन-चुन कर खाने लगते हैं और फिर भी कांय-कांय कर के उस से भी ज्यादा मांगने लगते हैं तब वह चीख मचा कर चिल्लाती है कि ओ रे कागा नहीं य

दो नैना मत खाइयो!
मत खाइयो
पीउ मिलन की आस!

—'जैनेन्द्र की कहानियां'—भाग ३ से

जैनेन्द्र जी की कृतियों के प्रथम संस्करण

फांसी (१९२९) कहानी-संग्रह साहित्य प्रकाशन दिल्ली।

परख (१९३०) उपन्यास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।

वातायन (१९३०) कहानी-संग्रह हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

एक रात (१९३२) कहानी-संग्रह हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।

तपोभूमि (१९३२) उपन्यास (सह लेखक ऋषभचरण जैन) साहित्य प्रकाशन दिल्ली।

नीलम देश की राज कन्या (१९३३) कहानी-संग्रह हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

सुनीता (१९३४) उपन्यास साहित्य प्रकाशन दिल्ली।

जैनेन्द्र के विचार (१९३४) निबन्ध-संग्रह (सम्पादक-प्रभाकर माचवे) हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

दो चिड़ियाँ (१९३५) कहानी-संग्रह किताब कुटीर दिल्ली।

मन्दालिनी (१९३५) (अनूदित नाटक मैटरलिंक) गंगा पुस्तक माला लखनऊ।

त्यागपत्र (१९३७) उपन्यास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

प्रेम में भगवान (१९३८) अनूदित कहानी-संग्रह (टालस्टाय) सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली।

प्रस्तुत प्रश्न (१९३९) प्रश्नोत्तर (प्रश्नकर्ता श्री हरदयालसिंह मौजी श्री भवानन्द पोतदार और श्री प्रभाकर माचवे) हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

कल्याणी (१९४०) उपन्यास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।

जड़ की बात (१९४५) निबन्ध-संग्रह सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली।

पाजेब (१९४८) कहानी-संग्रह राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

ध्रुव यात्रा (१९४९) कहानी-संग्रह हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद।

जयसन्धि (१९५०) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।

पूर्वोदय (१९५) निबन्ध संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।

सुखदा (१९५) उपन्यास पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।

सोच-विचार (१९५२) निबंध-संग्रह, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।
विवर्त (१९५३) उपन्यास, पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
व्यतीत (१९५३) उपन्यास, पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
जैनेन्द्र की कहानियाँ (संशोधित संस्करण) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन
प्रथम सात भाग दिल्ली।
साहित्य का श्रेय और प्रेय (१९५३) निबन्ध संग्रह, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।
काम प्रेम और परिवार (१९५३) प्रश्नोत्तर (प्रश्नकर्ता सुशीला अग्रवाल) पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
मन्थन (१९५३) निबन्ध-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
पाप और प्रकाश (१९५३) अनूदित नाटक (टालस्टाय) पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
ये और वे (१९५४) संस्मरण पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
जयवर्धन (१९५६) उपन्यास पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
मामा प्रथम भाग (१९५८) अनूदित उपन्यास (एलेक्जेण्डर कुप्रिन) पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।
जैनेन्द्र की दो कहानियाँ (१९६०) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
भाग आठ
मामा भाग दूसरा (१९६१) अनूदित उपन्यास (एलेक्जेण्डर कुप्रिन) पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
समय और हम (१९६२) प्रश्नोत्तर (प्रश्नकर्ता वीरेन्द्र गुप्त) पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
इतस्ततः (१९६३) निबन्ध-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
जैनेन्द्र की कहानियाँ नवां भाग (१९६४) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
अनामस्वामी (१९६५) उपन्यास पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
परिप्रेक्ष (१९६५) निबन्ध-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।
राष्ट्र और राज्य (१९६५) पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।